# धन्यवाद

इस पुस्तक के प्रकाशन मे निम्नलिखित महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है, वे धन्यवाद के पात्र है। आशा है आगे भी इसी प्रकार सहायता देते रहेगे।

५०१) ला० रतनलाल जी जैन C/o मैसर्ज मूलचन्द माणिकचन्द जैन, बीडी वाले, नया वास, देहली।

१०१) मैसर्ज कैपीटल सैनीटरी स्टोर्स (रजिस्टर्ड) गली बजरग बली, चावडी बाजार, देहली।

इस पुस्तक की एक प्रति उपर्युक्त किसी एक पते पर तथा प्रकाशक को पत्र लिखकर मुफ्त मगाई जा सकती है।

विशेष के लिये निम्नलिखित पते पर पत्र व्यवहार करे।

श्रीकृष्ण जैन
४५३७ पहाडी धीरज,
देहली ६
प्रकाशक—

# दो शब्द

माननीय श्री कानजी स्वामी ने पूज्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थो से प्रभावित होकर दिगम्बर धर्म में पदार्पण किया, यह बात तो अभिनन्दनीय है परन्तु प्रारम्भ से ही कई विषयो मे उनकी अपनी जुदी मान्यता रही है और तभी से उनकी उन मान्यताओ के विरुद्ध साहित्य भी बराबर निकलता रहा है। कुछ पुस्तको के नाम ये हैं :—

श्री पूज्य क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी-प्रवचन (टेप रिकार्डिग)

श्री क्षु० सुमतिसागर जी कानपुर वाले—दिव्य सन्देश २ भाग

श्री ब्र० चादमल जी चूडीवाल—कांजी मत समीक्षा,

२—जैन तत्व मीमासा की मीमासा।

श्री ब्र० चुन्नीलाल जी देसाई—सोनगढ का कलंक

श्री प० श्रीलाल जी पाटनी अलीगढ—कानजी स्वरूपम्

सिद्धान्त महोदधि प० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य फीरोजाबाद—

एकान्त परिहार

पं० मक्खनलाल जी न्यायालकार मोरेना—श्री कानजी मत खडन,

२—दि० जैन धर्म के नाम से कानजी स्वामी का नया पथ।

श्री पं० इन्द्रलाल जी शास्त्री जयपुर—पुण्यधर्म—मीमासा

२—भावलिंगी और द्रव्यलिंगी मुनि का स्वरूप

श्री प० जीवन्धर जी न्यायतीर्थ इन्दौर—जैन तत्व विवेक

पं० अजितकुमार जी शास्त्री देहली—तात्विक विचार

श्री प० सुमेरचन्द जी दिवाकर सिवनी—अध्यात्मवाद की मर्यादा,

२—सैद्धान्तिक चर्चा

श्री नेमिचन्द जी वकील सहारनपुर—व्यवहारधर्म निश्चय धर्म का साधनभूत है।

श्री प० शिखरचद जी ईसरी—समाधान चन्द्रिका

और दि० जैनाचार्य क्या कहते हैं ?

श्री प्रभुदास बेचरदास जी पारख कलकत्ता—अजैनपने का लक्षण

इस प्रकार २०-२१ पुस्तके मेरे देखने मे आई हैं। कई पुस्तकें और भी लिखी गई होगी। इनके अतिरिक्त श्री प० अजितकुमार जी शास्त्री 'जैन गजट' मे वर्षों से लिख रहे हैं। श्री प० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना के 'गजट' मे लगभग ४० लेख निकल चुके है। श्री ब्र० रतनचन्द जी मुख्तार सहारनपुर, प० लालबहादुर जी शास्त्री एम० ए० देहली, आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार देहली, श्री प० शिवजीराम जी राची, डा० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एम०ए० वाराणसी, श्री ब्र० मूलशकरजी देसाई, श्री बाबूलालजी कलकत्ता, श्री सोहनलालजी गणधर लाडनू आदि अनेक विद्वानो ने भी इस विषय मे पर्याप्त लिखा है।

इन सब प्रकाण्ड विद्वानो ने अत्यन्त पुष्ट शास्त्रीय प्रमाणो से श्री कानजी स्वामी की मान्यताओ को शास्त्र-विरुद्ध ठहराया है किन्तु सोनगढ से किसी विद्वान् की किसी भी बात का कोई समाधान नही किया गया।

कुछ भाई कहते हैं कि स्वामी जी विवाद मे नही पडना चाहते। इसलिये वे किसी का उत्तर भी नही देते, पर यह किसी व्यक्ति को उत्तर देने की बात नही, दिगम्बर जैन धर्म के नाम पर जिन सिद्धान्तो और मान्यताओ का प्रचार किया जा रहा है उनको शास्त्रानुकूल सिद्ध करना तथा विद्वानो की शंकाओ का उचित समाधान करना सोनगढ वालो का आवश्यक और पुनीत कर्त्तव्य है। सदा यही परिपाटी रही है। जब सोनगढ वाले यह समझते हैं कि उनकी मान्यताये शास्त्रानुकूल हैं तो उच्चकोटि के इतने विद्वानो ने जो कुछ लिखा है उसका समाधान किया ही जाना चाहिये।

भारतवर्षीय जैन विद्वत् परिषद् ने इस विषय मे स्वामी जी से चर्चा करनी चाही और इसीलिये अपना अधिवेशन तक सोनगढ मे करना स्वीकार किया तथा विद्वान् वहाँ पहुँचे, पर उनके साथ चर्चा नहीं हो सकी। श्री कानजी स्वामी की शिखर जी की यात्रा के समय विद्वानो

ने उनसे ईसरी मे श्री पूज्य वर्णी गणेशप्रसाद जी के समक्ष चर्चा करना चाही, पर बात को टाल दिया गया। बम्बई, कलकत्ता आदि स्थानो मे भी यही हाल रहा। अनेक नगरो की समाजो की ओर से सुप्रतिष्ठित व्यक्तियो के हस्ताक्षर सहित पत्र सोनगढ भेजे गए कि विद्वानो के साथ चर्चा होकर यह अनिश्चित स्थिति समाप्त होनी चाहिये, पर सब व्यर्थ हुआ। तात्पर्य यह कि सोनगढ वाले किसी तरह भी अपने सिद्धान्तो पर चर्चा करने को तैयार नही, वे अपनी बात तो सुनाना चाहते हैं पर अन्य किसी विद्वान् की सुनना नही चाहते। पाठको को यह जान कर आश्चर्य होगा कि सोनगढ के श्री मन्दिर जी मे श्री कानजी-स्वामी तथा उनके भक्तो के अतिरिक्त अन्य किसी विद्वान् का भाषण नही हो सकता।

ये सब बातें समाज मे दलबन्दी का कारण बन रही हैं। सोनगढ की ओर से नई विचारधारा को फैलाने का भरसक प्रयत्न हो रहा है। इससे जगह-जगह आपस मे ऐसी विचार-विभिन्नता पनप रही है जिसका फल अन्त मे समाज के लिये अत्यन्त घातक दिखाई देता है। पर विद्वानो के साथ चर्चा करके शास्त्रानुकूल एक राय बनाने की ओर कोई ध्यान नही।

इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य यही है कि श्री कानजी स्वामी तथा हमारे मुमुक्षु भाई यह देखे कि वे अपनी मान्यताओ का आधार पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य को कहते हैं, पर उन्ही के ग्रन्थो से उनकी मान्यताओ का खण्डन हो रहा है। साथ ही सोनगढ के ग्रन्थो मे जिन शब्दो मे एकनय का पोषण किया जा रहा है वह जैन परम्परा के विपरीत है।

सम्माननीय श्री कानजी स्वामी तथा दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ के अधिकारियो से सानुरोध-प्रार्थना है कि अब भी कुछ नही बिगडा है, वे इस विषय पर अत्यन्त गभीरता से विचार करे तथा विद्वानो के साथ वीतराग भाव से चर्चा एव विचार-विनिमय करके शास्त्रसम्मत ऐसा मार्ग निश्चित करे जिसमें विवाद न हो तथा सभी शान्ति से उसे अपनाकर आत्मकल्याण कर सके।

—प्रकाशक

# द्वितीय संस्करण

"सोनगढ-सिद्धान्त" का द्वितीय परिवर्द्धित सस्करण पाठको की सेवा में उपस्थित करते हुये अत्यन्त प्रसन्नता होती है। दो हजार प्रतियो का प्रथम सस्करण इतनी शीघ्रता से ५,६ माह में ही समाप्त हो गया। उसकी प्रतिया भारत के सभी प्रान्तो मे पहुची तथा सभी प्रान्तो से इसके विषय में अनेक पत्र प्राप्त हुये। उनसे ज्ञात होता है कि लोगो मे अभी भी विवेक है तथा वे अपने कर्त्तव्य को भली भाति समझते हैं।

हमारे कुछ प्रतिष्ठित समाजसेवी बन्धु पुस्तक में लिखी बातो से तो पूर्णतया सहमत हैं पर उनका विचार है कि निमित्त-उपादान, पुण्य-पाप आदि विषयो की चर्चा से समाज का वातावरण अशान्त होता जा रहा है, साथ ही सोनगढ वाले अपनी बातो पर अडे हुये हैं तथा वे इन विषयो पर बात तक नही करते तो अपनी ओर से ही यह चर्चा बन्द कर दी जाय और जैसा वे चाहे उनको करने दिया जाय। हमारा उन सज्जनो से नम्र निवेदन है कि जो लोग भगवान महावीर स्वामी की ढाई हजार वर्ष पुरानी आचार्य परम्परा के विपरीत सिद्धान्तो का प्रतिपादन व प्रचार करते हैं तथा उस विषय पर समाधान और वार्तालाप के लिये तैयार नही, जिनके कारण जगह २ मन्दिरो मे अलग सभाये तथा थोक बनते जा रहे हैं, इसका दोष उन पर है या प्रचलित सिद्धान्तो पर आस्था रखकर इस नये प्रचार के प्रति लोगो को जागरूक रखने वालो पर ?

हमे श्री कानजी स्वामी से कोई द्वेष नही है बल्कि दिगम्बर धर्म के प्रचार के लिये उन्होने जो कार्य किया हम उसकी सराहना करते हैं। जैनधर्म में वचन की प्रामाणिकता व्यक्ति के त्याग और वीतरागता पर आधारित मानी गई है। तब उन महान् आचार्यों के सामने जिनके शास्त्रो के अनेकानेक प्रमाण इस पुस्तक मे विद्यमान हैं, एक गृहस्थ को उनसे

वीतरागी गुरु होते हैं। अब व्यक्तित्व के प्रभाव मे आकर गृहस्थ को गुरु और सद्गुरु कैसे मान लिया जाय ?

कुछ लोगो का विचार है कि श्री कानजी स्वामी की भाषण शैली, विषय प्रतिपादन का ढंग तथा सोनगढ का वातावरण और अनुशासन आकर्षक और बढिया है। मेरी उनमे प्रार्थना है कि जो बाते बढिया हैं वे हमें सीखनी और ग्रहण कर लेनी चाहिये। परन्तु इन कारणो से अपने सिद्धान्तो को भी बिना समाधान पाये यो ही बदल डालना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

हमारी रायमें समाजके वातावरण को बिगाडने की बहुत कुछ जिम्मेवारी उन भावुक भक्तों की भी है जो श्रीकानजीस्वामी को लोकोत्तर पुरुष मानते तथा उनके साथ अलौकिक विशेषणो का प्रयोग करके धर्म का रूप बिगाड रहे हैं। उनके इन कामो से समाज पर उल्टा प्रभाव पड रहा है क्योंकि त्याग और वीतरागता की कसौटी का ऐसा निरादर कैसे उचित कहा जा सकता है ?

प्रस्तुत सस्करण मे मूल पुस्तक के अतिरिक्त मतभेद के सभी विषयो पर भी लेखो का सग्रह किया गया है। सोनगढ के विषय मे पर्याप्त सामग्री होते हुये भी उसमे से थोडी सी यहाँ दी गई है जिससे वहा की सही झाकी पाठको को मिल सकेगी। इस पुस्तक मे जिन २ विद्वानो के लेखो का, पत्रो व ग्रन्थो से सग्रह किया गया है अपने उन सब माननीय विद्वानो तथा उन पत्रो व प्रकाशन सस्थाओ का मैं हृदय से आभारी हू।

अन्त में एक बार मैं पुन यह स्पष्ट करना चाहता हू कि इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य मात्र यही है कि लोग सही स्थिति को समझे, तथा सोनगढ वाले इन बातो पर गम्भीरता से विचार करके उन कमियो को दूर करें जिससे धर्म का सर्वांगपूर्ण वास्तविक रूप सामने आ सके। समाज मे सब शान्ति चाहते हैं तथा शान्ति का सच्चा मार्ग यही हो सकता है।

—प्रकाशक

# विषय-सूची

# प्रस्तावना

ससार मे आत्मा को जन्म-मरण, भूख-प्यास आदि के दुख क्यो उठाने पडते है, और उन दुखो से ससारी जीव को छुटकारा किस तरह मिलता है, इस आध्यात्मिक विषय को अपनी सर्वज्ञ वीतराग अवस्था मे भगवान महावीर ने समवशरण मे अपनी दिव्यवाणी द्वारा जैसा जनता को सुनाया हमारे पूर्वज परम उपकारी ऋषियो ने जनसाधारण के हित के लिए उस उपदेश को वैसा ही अपने ग्रन्थो मे लिखा तथा उन महाऋषियो ने खुद भी उसका अमल किया।

मूल सघ के सस्थापक आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थो मे मुख्य रूप से आध्यात्मिक विषय ही प्रतिपादन किया है, उसका कुछ सार नीचे लिखे अनुसार है—

जीव-परिणामहेदु , कम्मत्त पुग्गला परिणमति ।
पुग्गलकम्मणिमित्त, तहेवि जीवोवि परिणमइ ॥८०॥

समयसार

अर्थ—पुद्गल कार्माण द्रव्य ससारी जीव के राग-द्वेष आदि परिणामो के कारण ज्ञानावरण आदि कर्म रूप परिणमन करता है और उन पौद्गलिक कर्मो के निमित्त से जीव भी राग-द्वेष आदि रूप परिणमन करता है यानी–भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होते है।

द्रव्यास्रव और भावास्रव के विषय मे इसी तरह श्री कुन्द कुन्द आचार्य ने समयसार की १६४ तथा १६५ वी गाथा मे भी कहा है।

उन पुद्गल कर्मो का फल आत्मा को क्या भोगना पडता है, इस विषय पर समयसार में आ० कुन्दकुन्द ने लिखा है—

सो सव्वणाणदरिसी, कम्मरयेण णियेण वच्छण्णो।
ससारसमावण्णो, णवि जाणदि सव्वदो सव्व ॥१६०॥

अर्थ---वह आत्मा यद्यपि स्वभाव से सर्वज्ञाता द्रष्टा है परन्तु उसका वह स्वभाव अपनी कर्म रूपी धूल से ढका हुआ है इसलिये कभी भी वह सव पदार्थो को नही जान पाता।

सम्मत्तपडिणिवद्ध, मिच्छत्त जिणवरेहि परिकहिद।
तस्सोदयेण जीवो, मिच्छादिट्ठित्ति णादव्वो ॥१६१॥

अर्थ---आत्मा के सम्यक्त्व गुण का प्रतिवन्धक (रोकने वाला) कारण जिनेन्द्र भगवान ने मिथ्यात्व कर्म वताया है। उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है।

णाणस्स पडिणिवद्ध, अण्णाणं जिणवरेहि परिकहिद।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥१६२॥

अर्थ---आत्मा के ज्ञानगुण का प्रतिबन्धक जिनेन्द्रदेव ने ज्ञानावरण कर्म कहा है। उस ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव अज्ञानी (अल्पज्ञानी) होता है। ऐसा समझना चाहिये।

चारित्तपडिणिवद्ध, कसाय जिणवरेहि परिकहिद।
तस्सोदयेण जीवो, अचरित्तो होदि णादव्वो ॥१६३॥

अर्थ---आत्मा के चारित्र गुण का प्रतिवन्धक जिनेन्द्र भगवान ने कषाय (मोहनीय) कर्म बतलाया है, उसके उदय से आत्मा चारित्र-रहित होता है।

आऊदयेण जीवदि, जीवो एव भणति सव्वण्हू ॥२५१॥
आउक्खएण मरण, जीवाण जिणवरेहि पण्णत्त ॥२४८॥

अर्थ---ससारी जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं। और आयु कर्म के क्षय (समाप्त) होने से जीवों का मरण होना जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है।

कम्मोदयेण जीवा, दुक्खिदसुहिदा हवति जदि सव्वे ॥२५४॥

अर्थ---ससारी जीव कर्म (साता असाता वेदनीय) के उदय से सुखी दुखी है।

इस तरह श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने ससार-भ्रमण का, जीव के मिथ्यात्व, अज्ञान, असयम का, सुख-दुख का, जन्म-मरण का निमित्त कारण ज्ञानावरण, वेदनीय, मोहनीय आदि द्रव्यकर्म बतलाये है और उन द्रव्यकर्मो के आस्रव और बन्ध के निमित्त कारण ससारी जीव के राग-द्वेप आदि विकारभाव बतलाये है।

कर्मो से छूटने का उपाय भी श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नीचे लिखे अनुसार अपने विभिन्न आध्यात्मिक ग्रन्थो मे सक्षेप से बतलाया है।

## सम्यग्दर्शन

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो, उदययरो भव्वजीवाण ॥२५॥ बो० पा०

अर्थ --भव्य जीवो का कल्याण करने वाला दयामय धर्म, समस्त परिग्रहरहित मुनिचर्या और वीतराग देव है।

हिसारहिये धम्मे, अट्ठारहदोसवज्जिये देवे ॥
णिग्गथे पव्वयणे, सद्दहण होइ सम्मत्त ॥ ९० ॥ मो०पा०

अर्थ---अहिसामय धर्म के, अठारह दोषरहित देव के और निर्ग्रन्थ गुरु के श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता है।

सम्मत्तस्स णिमित्त, जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अतरहेओ भणिया, दसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥ नि सा

अर्थ---सम्यक्त्व होने का निमित्त कारण जिनवाणी तथा उनके ज्ञाता आचार्य आदि है और सम्यक्त्व का अन्तरग कारण दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम आदि है।

जिनबिंबदसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदसणादो।

—धवल सिद्धान्त पुस्तक ६ पृष्ठ४२७-४२८

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का दर्शन करने से निद्धत तथा निकाचित रूप भी मिथ्यात्व आदि कर्म-समूह का क्षय हो जाता है।

साराश यह है कि देवदर्शन, शास्त्र श्रवण, गुरु उपदेश से, देव गुरु शास्त्र की तथा दया-अहिसामय धर्म की श्रद्धा करने से दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय हो जाने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। सम्यग्दर्शन के साथ ही **सम्यग्ज्ञान** हो जाता है।

## सम्यक्-चारित्र

सम्यग्दर्शन हो जाने पर जब तक सम्यक्चारित्र नही होता तब तक आत्मा ससार से मुक्त नही होता। इसलिए सम्यग्दृष्टि को अणुव्रत, महाव्रत, तप, त्याग, सयमादि रूप चारित्र धारण करना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि तीर्थकरो को तथा सर्वार्थसिद्धि के देवो को एव लौकान्तिक देवो आदि को अतिम मनुष्य भव चारित्र के लिए ही धारण करना पडता है।

इस विषय मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते है।

णवि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥ सू०पा०

अर्थ—जैन शासन मे वस्त्रधारी (निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा न लेने वाला) यानी-असयमी तीर्थकर भी मुक्ति नही पा सकता।

धुवसिद्धी तित्थयरो, चउणाणजुदो करेइ तवयरण।
णाऊण धुव कुज्जा, तवयरण णाणजुत्तोवि ॥६०॥-मो पा

अर्थ—तीर्थकर को उसी भव से मुक्ति मिलना निश्चित होता है फिर भी वे चार ज्ञानधारक होकर भी तपश्चरण करते है। ऐसा जान कर ज्ञानी पुरुष को भी तपस्या अवश्य करनी चाहिए। (मुनि-दीक्षा लेते ही तीर्थकर को **मनपर्यय** ज्ञान हो जाता है, तीन ज्ञान उनको जन्म से होते ही है)

धम्मादीसद्दहण, सम्मत्त णाणमगपुव्वगद ।
चिट्ठा तव हि चिरिया, ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥
—पचास्तिकाय

अर्थ—धर्म आदि द्रव्यो का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। अग पूर्व सिद्धान्त का बोध सम्यग्ज्ञान है और तपश्चरण करना चारित्र हे। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

दाण पूजा मुक्ख, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
—रयणसार

अर्थ—दान देना और पूजा करना गृहस्थ श्रावक का मुख्य धर्म है। दान पूजा के विना श्रावक नही होता।

दुविह सजमचरण, सायार तह अणायार।
सायार सग्गथे, परिग्गहरहिये णिरायार ॥२१॥ चा पा

अर्थ—सयम चारित्र दो तरह का है—१—सागार (अणुव्रती गृहस्थ) २—अनागार। परिग्रहधारी गृहस्थ का चारित्र सागार है और परिग्रहरहित मुनि का अनागार चारित्र है।

भाव तिविहपयार, सुहासुह सुद्धमेव णायव्व
असुह च अट्टरुद्द, सुह धम्म जिणवरिंदेहि ॥७६॥ मो पा

अर्थ—जीव के भाव तीन तरह के होते है—१—अशुभ, २—शुभ, ३—शुद्ध। आर्त, रौद्र ध्यान के परिणाम अशुभ भाव है, शुभ भाव धर्म रूप होते है।

अधर्म-कर्म-निर्मुक्ति धर्मकर्मविनिर्मिति ।
चारित्र तच्च सागारानगारयतिसश्रयम् ॥२६२॥
उपासकाध्ययन

अर्थ—बुरे कर्मो से बचना और अच्छे कर्मो मे लगना चारित्र है। वह चारित्र गृहस्थ और मुनि के भेद से दो प्रकार का है।

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदु खे च षट् त्रयम् ।
हितमाद्यमनुष्ठेय शेषत्रयमथाहितम् ॥२३९॥

(आत्मानुशासन)

अर्थ–शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप, सुख और दु ख ये छह हुए । इनके तीन युगल है । प्रत्येक युगल के आदि का अर्थात् शुभ, पुण्य और सुख हितकारक और आचरण के योग्य है । शेष तोन अर्थात् अशुभ पाप और दु ख अहितकारक है ।

वर वयतवेहि सग्गो, मा होउ निरय इयरेहि ।
छायातवट्ठियाण, पडिलवाण गुरु भेय ॥२५॥ मो० पा०

अर्थ–व्रत तप आदि द्वारा स्वर्ग जाना अच्छा है । पाप आदि अशुभ क्रिया से नरक जाना अच्छा नही है । जैसे कि धूप मे खडे होने वाले और छाया मे खडे होने वालो मे परस्पर बहुत अन्तर है । यानी गर्मी के समय धूप मे खडे होने वाले से छाया मे खडे होने वाला अच्छा है ।

चारित्र धारण करने की प्रेरणा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने और भी बहुत सी गाथाओ द्वारा चारित्र पाहुड मे विस्तार से की है ।

## दया धर्म है

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वजा सव्वसगपरिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाण ॥२५॥

(भगवान् कु दकु द कृत वोध पाहुड)

अर्थ–धर्म है सो तो दया करि विशुद्ध है, बहुरि प्रव्रज्या है सो सर्व परिग्रह रहित है । बहुरि देव है सो नष्ट भया है मोह जाका ऐसा है सो ये भव्य जोवनि के उदय का (मनोरथ पूर्ण अथवा मोक्ष सुख) करने वाले है ।

धर्मो जीवदया गृहस्थ शमिनोर्भेदाद्द्विधा च त्रय
रत्नाना परम तथा दशविधोत्कृष्टसमादिस्तत ।
मोहोद्भूत विकल्पजालरहिता वागङ्गसगोज्झिता
शुद्धानन्दमयात्मन परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ॥७॥

(पद्मनन्दि पच विशति)

अर्थ–**प्राणियो के ऊपर दयाभाव रखना, यह धर्म का स्वरूप है।** वह धर्म गृहस्थ और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। वही धर्म सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप उत्कृष्ट रत्नत्रय के भेद से तीन प्रकार का है। उत्तम क्षमा आदि के भेद से दस प्रकार का है। मोह के निमित्त से होने वाले मानसिक विकल्प समूह से तथा वचन एव शरीर के ससर्ग से भी रहित जो शुद्ध आनन्दरूप आत्मा की परिणति होती है उसे भी 'धर्म' इस नाम से कहा जाता है।

आद्या सद्व्रतसचयस्य जननी सौख्यस्य सत्सपदा
मूल धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनि श्रेणिका ।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्य दया धार्मिकै
धिड्नामाप्यदयस्य तस्य च पर सर्वत्र शून्या दिश ॥८॥

(पद्मनन्दि पचविंशति)

अर्थ—यहा धर्मात्मा सज्जनो को सबसे पहिले प्राणियो के विषय मे नित्य ही दया करनी चाहिये। क्योकि वह दया समीचीन व्रतसमूह, सुख (मोक्षसुख) एव उत्कृष्ट सम्प्रदाओ की मुख्य जननी अर्थात् उत्पादक है। धर्मरूपी वृक्ष की जड है, तथा अविनश्वर पद अर्थात् मोक्ष महल पर चढने के लिये अपूर्व नसैनी का काम करती है। निर्दय पुरुष का नाम लेना भी निन्दाजनक है, उसके लिये सर्वत्र दिशाये शून्य जैसी है। भावार्थ—जिस प्रकार जड के विना वृक्ष की स्थिति नही रहती

है उसी प्रकार प्राणिदया के विना धर्म की स्थिति भी नही रह सकती।

येपा जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषा धर्म कुतो भवेत् ॥४३३॥

(पद्मनन्दि पचविशति)

अर्थ—जिन भगवान् के उपदेश से दयालुतारूप अमृत से परिपूर्ण जिन श्रावको के हृदय मे प्राणिदया आविर्भूत नही होती है उनके धर्म कहा से हो सकता है? अर्थात् नही हो सकता है।

मूल धर्मतरोराद्या व्रताना धाम सपदाम्।
गुणाना निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभि ॥४३४॥

(पद्मनन्दि पचविशति)

अर्थ—प्राणी दया धर्मरूपी वृक्ष की जड है, व्रतो मे मुख्य है, सम्पतियो का स्थान है और गुणो का भण्डार है। इसलिये विवेकीजनो को प्राणि-दया अवश्य करनी चाहिये।

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे।
सूत्राधारा प्रसूनाना हाराणा च सरा इव ॥४३५॥

(पद्मनन्दि पचविशति)

अर्थ—मनुष्य मे सब ही गुण जीवदया के आश्रय से इस प्रकार रहते है जिस [प्रकार कि पुष्पो की लडिया धागे के आश्रय से स्थिर रहती है।

यत्स्यात् प्रमाद योगेन प्राणिषु प्राणहायनम्।
साहिसा रक्षण तेषामहिसा नु सता मता ॥३१८॥

(उपासकाध्ययन)

अर्थ—प्रमाद के योग से प्राणियो के प्राण का घात करना हिसा है और उनकी रक्षा करना अहिसा है।

एका जीवदयैकत्र परत्र सकला क्रिया

अर्थ—अकेली जीवदया एक ओर है और शेष सब क्रियाए दूसरी ओर हे। अर्थात् अन्य सब क्रियाओ से जीवदया श्रेष्ठ है। अन्य सब क्रियाओ का फल खेती की तरह है और जीव दया का फल चितामणि की तरह है।

धर्मो नाम कृपामूल सा तु जीवानुकम्पनम्।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिक-लक्षणम् ॥५-३५॥

(क्षत्र चूडामणि)

अर्थ—धर्म का मूल दया है और वह दया जीवो की अनुकम्पारूप है। अत अरक्षित प्राणियो की रक्षा करना धर्मात्मा का लक्षण है।

दयादमत्यागसमाधिसन्तते पथि प्रयाहि प्रगुण प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्य वचसामगोचर विकल्पदूर परम किमप्यसौ ॥१०७॥

(आत्मानुशासन)

अर्थ—हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरलभाव से दया, इन्द्रिय दमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग मे प्रवृत्त हो। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय है और समस्त विकल्पो से रहित है।

धम्मो वत्थु-सहावो खमादि-भावो य दस-विहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो जीवाणं रक्खण धम्मो ॥४७८॥

(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ—वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमादि भावो को धर्म कहते है। रत्नत्रय को धर्म कहते है। **जीवो की रक्षा करने को धर्म कहते है।**

'करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।'

(धवल पु० १३ पृ० ३६२)

अर्थ--क्योकि करुणा जीव का स्वभाव है, अतएव उसे कर्मजनित मानने मे विरोध आता है।

इस प्रकार दि० जैन आगम मे दया को धर्म और करुणा को जीव स्वभाव हमारे पूर्व महान् आचार्य श्री १०८ कुन्दकुन्द वीरसेन स्वामी आदि ने कहा है। किन्तु जो अपने पूर्व सस्कार के वश दया को धर्म नही मानते तथा मात्र बध व संसार का ही कारण मानते है, वे दिगम्बर जैन आगम की अवहेलना करने वाले है।

## दान

सन्त सर्वसुरासुरेन्द्रमहित मुक्ते पर कारण
रत्नाना दधति त्रय त्रिभुवनप्रद्योति काये सति।
वृत्तिस्तस्य यदन्नत' परमया भक्त्यार्पिताज्जायते
तेषा सद्गृहमेधिना गुणवता धर्मो न कस्य प्रिय ॥१२॥

(पद्मनन्दि पचविंशति)

अर्थ--जो रत्नत्रय समस्त देवेन्द्रो एव असुरेन्द्रो से पूजित है, मुक्ति का अद्वितीय कारण है तथा तीनो लोको को प्रकाशित करने वाला है उस रत्नत्रय को साधुजन शरीर के स्थित रहने पर ही धारण कहते है। उस शरीर की स्थिति उत्कृष्ट भक्ति से दिये गये अन्न से रहती है। उन गुणवान् सद्गृहस्थो का धर्म भला किसे प्रिय न होगा ? अर्थात् सभी को प्रिय होगा।

मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत्र लोके
तद्धार्यते मुनिभिरङ्गबलात्तदन्नात्।
तद्दीयते च गृहिणा गुरुभक्तिभाजा
तस्माद्धृतो गृहिजनेन विमुक्तिमार्ग. ॥

(पद्मनन्दि पचविंशति २-१२)

लोक मे मोक्ष के कारणीभूत जिस रत्नत्रय की स्तुति की

जाती है, वह रत्नत्रय मुनियो के द्वारा शरीर की शक्ति से धारण किया जाता है, शरीर की शक्ति भोजन से प्राप्त होती है और वह भोजन अतिशय भक्ति से सयुक्त गृहस्थ के द्वारा दिया जाता है। **इस कारण वास्तव मे उस मोक्षमार्ग को गृहस्थजनो ने धारण किया है।**

सर्वोवाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुट
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्वृत्तिर्वपुपोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकै
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥४६६॥

(पद्मनन्दि पचविशति)

अर्थ—सब प्राणी सुखकी इच्छा करते है, वह सुख स्पष्टतया मोक्ष मे है वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि स्वरूप रत्नत्रय के होने पर ही सिद्ध होती है। वह रत्नत्रय दिगम्बर साधु के होता है। उक्त साधु की स्थिति शरीर के निमित्त से होती है, उस शरीर की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है और वह भोजन श्रावको के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त काल मे भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्राय उन श्रावको के निमित्त से हो रही है।

आहारसणे देहो देहेण तवो तवेण रय सडण।
रयणासेण य णाण णाणे मुक्खो जिणो भणई ॥५२१॥

(भाव सग्रह)

अर्थ—आहार ग्रहण करने से शरीर की स्थिति रहती है, शरीर की स्थिति रहने से तपश्चरण होता है। तपश्चरण से ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मो का नाश होता है। ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मो के नाश होने से उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है और उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भोयण-दाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि ।
भुक्ख-तिसाए वाहि दिणे दिणे होंति देहीण ॥३६३॥
भोयण-बलेण साहू सत्थं सेवेदि रत्ति-दिवसं पि ।
भोयण-दाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति ॥३६४॥

(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ—भोजन दान देने पर तीनो ही दान हो जाते है, क्योकि प्राणियो को भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है। भोजन के बल से ही साधु रात दिन शास्त्र का अभ्यास करता है और भोजन दान देने पर प्राणो की भी रक्षा होती है।

सिक्खा-वयं च तिदियं तस्स हवे सव्व-सिद्धि-सोक्खयरं ।
दाणं चउव्विहं पि य सव्वे दाणाण सारयरं ॥३६१॥

(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ—यह चार प्रकार का दान सब दानो मे श्रेष्ठ है और मोक्ष के सब सुखो का करने वाला है। जो दान देता है उसके तीसरा शिक्षाव्रत होता है।

## भक्ति

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद् वृत्तात् स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात् स श्रुतेः ।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यतः
तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै ॥६॥

(आत्मानुशासन)

अर्थ—सब प्राणि शीघ्र ही यथार्थ सुख को प्राप्त करने की इच्छा करते है। सुख की प्राप्ति समस्त कर्मो का क्षय होने पर होती है। कर्मो का क्षय सम्यग्व्रतो से होता है। वे व्रत सम्यग्ज्ञान के अधीन है। सम्यग्ज्ञान आगम से प्राप्त होता है। आगम श्रुत से होता है। श्रुत उस आप्त से होता है जो रागादि समस्त दोषो से रहित हो। इसलिये सुख के मूल कारण भूत आप्त (देव)

की परीक्षा पूर्वक विचार करके सज्जन वाह्य एव अभ्यन्तर लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये सम्पूर्ण सुख देने वाले उस आप्त (देव) का आश्रय करे अर्थात् भक्ति करे।

सर्वागमावगत खलु तत्त्ववोधो,
मोक्षाय वृत्तमपि सप्रति दुर्घट न।
जाडयात्तथाकुतनुतस्त्वयि भक्तिरेव
दैवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम् ।८७१।
(पद्मनन्दि पचविंशति)

अर्थ—हे देव ! मुक्ति का कारणीभूत जो तत्त्वज्ञान है, वह निश्चयत समस्त आगम के जान लेने पर प्राप्त होता है, सो वह जड वुद्धि होने से हमारे लिये दुर्लभ है। इसी प्रकार उस मोक्ष का कारणीभूत जो चारित्र है वह भी शरीर की दुर्वलता से इस समय हमे नही प्राप्त हो सकता है। इस कारण आप के विषय मे जो मेरी भक्ति है वही क्रम से मुझ को मुक्ति का कारण होवे।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठिहरा सेस मोह तिमिरेण।
तह णट्ठ जइ दिट्ठ जहट्ठिय त मए तच्च ॥७४३॥
(पद्मनन्दि पच विंशति)

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर दर्शन मे वाधा पहुँचाने वाला समस्त मोह (दर्शन मोह) रूप अन्धकार इस प्रकार नष्ट हो गया कि जिससे मैंने यथावस्थित तत्त्व को देख लिया है (अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है)।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दट्ठ व्वावहि विसेसरूवम्मि।
दसण सुद्धीए गय दाणि मह णत्थि सव्वत्थ ॥७६०॥
(पद्मनन्दि पचविंशति)

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! देखने योग्य पदार्थों के सीमा विशेष

स्वरूप (सर्वाधिक दर्शनीय) आपका दर्शन होने पर जो दर्शन विशुद्धि हुई है उससे इस समय यह निश्चय हुआ है कि सब वाह्य पदार्थ मेरे नही है।

एकापि समर्थेय जिनभक्तिर्दुर्गति निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितु दातु मुक्तिश्रिय कृतिन ॥१५५॥

(उपासकाध्ययन)

अर्थ—अकेली एक जिन-भक्ति ज्ञानी के दुर्गति का निवारण करने मे, पुण्य का सचय करने मे और मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने मे समर्थ है।

भत्तीए जिणवराण खीयदि ज पुव्वसचिय कम्म।
आयरिय पसाएण य विज्जा मता य सिज्झति ॥८१॥

(मूलाचार अधिकार ७)

अर्थ—जिनेश्वर की भक्ति से पूर्व-सचित कर्म का नाश होता है और आचार्यो की कृपा से विद्याओ और मन्त्रो की सिद्धि होती है।

सिद्धाण णमोक्कार भावेण य करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावई अचिरेण कालेण ॥६॥

(मूलाचार अधिकार ७)

अर्थ—जो नम्रमति (भक्त) भाव पूर्वक सिद्धो को नमस्कार करता है वह शीघ्र सर्व दुखो से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त हो जाता है।

साहूण णमोक्कार भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावइ अचिरेण कालेण ॥१६॥

(मूलाचार अधिकार ७)

अर्थ—जो नम्रमति (भक्त) भाव से साधु परमेष्ठिओ को नमस्कार करता है वह शीघ्र सम्पूर्ण दु खो से मुक्त (मोक्षसुख को प्राप्त) होता है।

त देवदेवदेव जदिवरवसह गुरु तिलोयस्स ।
पणमति जे मणुस्सा ते सोक्ख अक्खय जति ॥६॥

प्रवचनसार रायचन्द ग्रन्थमाला पृ० १००)

अर्थ--देवाधिदेव-यतिवर वृषभ और तीन लोक के गुरु अर्थात् ऐसे भगवान को जो मनुष्य प्रणाम करते है वे अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त होते है।

**समस्त पदार्थ अपने प्रतिपक्ष सहित उपलब्ध होते हैं।**

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणतपज्जाया ।
भगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥८॥

(पचास्तिकाय)

अर्थ---सत्ता उत्पादव्ययधौव्यात्मक, एक, सर्वपदार्थ में स्थित सविश्वरूप अनन्तपर्यायमय है और प्रतिपक्ष सहित है।

इस गाथा द्वारा श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने यह सिद्धान्त घोषित किया है कि 'सर्व पदार्थ अपने प्रतिपक्ष सहित है।'

जय धवल पुस्तक १ पृ० ५३ पर इस गाथा को उद्धृत करते हुए श्री १०८ वीरसेन स्वामी ने लिखा है 'समस्त पदार्थ अपने प्रतिपक्ष सहित उपलब्ध होते है। इसलिये भी अचेतन पदार्थ के अस्तित्व से अचेतन पदार्थ के प्रतिपक्षी चेतन पदार्थ की सिद्धि हो जाती है।"

श्रीमान प० फूलचन्दजी व प० कैलाशचन्दजी ने भी अपने विशेपार्थ मे पृ० ५४ पर लिखा है कि 'इससे (पचास्तिकाय गाथा ८ से) निश्चित होता है कि पदार्थ अपने प्रतिपक्ष सहित है।

इस सिद्धान्त के अनुसार 'नियति पर्याय' को या 'क्रमबद्ध-पर्याय' का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर उनके प्रतिपक्षी 'अनियत पर्याय' व 'क्रमअबद्ध पर्याय' का अस्तित्व सहज सिद्ध हो जाना है

पंचास्तिकाय गाथा ८ को उद्धृत करते हुए धवल पुस्तक १४ पृ० २३३-३४ पर श्री १०८ वीरसेन आचार्य ने कहा है कि 'ससार मे भव्य जीवो का अभाव नही हो सकता, क्योकि उनका अभाव होने पर अभव्य जीवो का भी अभाव प्राप्त होता है और अभव्यो का भी अभाव नही है, क्योकि उनका अभाव होने पर ससारी जीवो का अभाव प्राप्त होता है और यह भी नही है, क्योकि ससारी जीवो का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवो के भी अभाव का प्रसग आता है। 'ससारी जीवो का अभाव होने पर अससारी (मुक्त) जीव भी नही हो सकते, क्योकि सब प्रतिपक्ष पदार्थो की उपलब्धि अन्यथा नही बन सकती।'

इसी प्रकार यदि 'अनियत पर्याय' या 'क्रम अबद्धपर्याय' के अभाव मे 'नियत पर्याय' या 'क्रमबद्ध पर्याय का भी अभाव हो जायगा। 'प्रतिपक्षी के अभाव मे विवक्षित के भी अभाव का प्रसग प्राप्त होता है।' (धवल पु० ६ पृ० ६३)

इस अनियत पर्याय (क्रम अबद्ध पर्याय) की दृष्टि से **श्रीमान पं० फूलचन्द** जी ने आज से १३ वर्ष पूर्व तत्त्वार्थ सूत्र की अपनी टीका में इस प्रकार लिखा है-'**एक ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक कार्य का काल नियत है, उसी समय वह कार्य होता है अन्य काल मे नही। जो ऐसा मानते है वे काल के सिवा अन्य निमित्तों को नही मानते। पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका ऐसा मानना युक्तियुक्त** नही है, क्योकि कार्य की उत्पत्ति मे जैसे काल एक निमित्त है, वैसे अन्य भी निमित्त है। अत: कार्य की उत्पत्ति मे केवल काल को प्रधान कारण मानना उचित नही है। (पृ०८)

किसी मनुष्य ने तिर्यचायु का पूर्व कोटि वर्षप्रमाण स्थिति बध किया। अब **यदि** उसे स्थिति घात के अनुकूल सामग्री जिस

पर्याय मे आयु का बध किया है उसी पर्याय मे मिल जाती है तो उसी पर्याय मे वह आयु कर्म का स्थिति-घात कर सकता है और यदि जिस पर्याय मे आयु को भोग रहा है उसमे स्थिति-घात के अनुकूल सामग्री मिलती है तो उस पर्याय मे आयु कर्म का स्थिति घात कर सकता है। स्थिति-घात होने से आयु कम हो जाती है (पृ० १२९)।

जो कारण स्वय कार्यरूप परिणम जाता है वह उपादान कारण कहलाता है। किन्तु ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य उपादान कारण और निमित्त कारण इन दो के मेल से होता है, केवल एक कारण से कार्य की उत्पत्ति नही होती। छात्र सुबोध है, पर अध्यापक या पुस्तक का निमित्त न मिले तो वह पढ़ नही सकता। यहा उपादान है किन्तु निमित्त नही इसलिए कार्य नहीं हुआ। छात्र को अध्यापक या पुस्तक का निमित्त मिल रहा है पर वह मन्द-वुद्धि है, इसलिये भी वह पढ नही सकता। यहा निमित्त है किन्तु उपादान नही इसलिये कार्य नही हुआ (पृ० २१८)।

इस प्रकार श्रीमान् प० फूलचन्द्रजी ने सोनगढ के एकान्त क्रमवद्ध पर्याय सिद्धान्त का स्वय खडन किया है। किन्तु जैन तत्त्वमीमासा पुस्तक मे जो कुछ भी लिखा गया है वह उनकी उक्त मान्यता के विरुद्ध है। अर्थ से क्या-क्या अनर्थ नही होते!

जिस केवलज्ञान के आधार पर आज एकान्त-नियत-पर्याय को सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है उस केवल ज्ञान के विषय मे श्री १०८ वीरसेन महानाचार्य ने धवल पुस्तक १ के मगलाचरण मे लिखा है 'केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णयतिमिर जिण णमह।' अर्थ —'जिन्होने केवल ज्ञान सूर्यप्रभा पुंज से कुनय

रूप अंधकार को जीत लिया है।' जो केवलज्ञान कुनय (एकान्त) अंधकार का नष्ट करने वाला है क्या उस केवलज्ञान से एकान्त नियत पर्याय (एकान्त-क्रम-बद्ध पर्याय) का सिद्धान्त फलितार्थ हो सकता है ? नियतपर्याय क्रमबद्ध पर्याय) यदि अपने प्रतिपक्षी अनियत-पर्याय (क्रम-अबद्ध-पर्याय) की सापेक्ष है तो सुनय सम्यगेकान्त) है, अन्यथा दुर्नय (मिथ्या-एकान्त) है।

पूर्व सस्कार-वश जो उन आगम वाक्यो की उपेक्षा करके किसी भी अपेक्षा से दया दान भक्ति को धर्म स्वीकार नही करता और निमित्त कारण को स्वीकार नही करता तथा एकान्त नियतिवाद का उपदेश देता हो वह दिगम्बर जैन सिद्धान्त का श्रद्धालु कसे हो सकता है ?

जो व्यक्ति अपने आपको श्री कुन्दकुन्द आचार्य का श्रद्धालु भक्त कहता तथा समझता है उसको कुन्दकुन्द आचार्य के लिखित सिद्धान्त-अनुसार निश्चय-व्यवहारनय मे, नियत अनियत पर्याय मे ,पर समय आत्मा अनियत गुण पर्याय वाला होता है। गाथा १५५ पचास्तिकाय) एकातवादी न बनना चाहिए। जैसा आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार चारित्र को मुक्ति कारण समझ कर उसका आचरण किया उसी तरह उसके श्रद्धालु भक्त को भी यथाशक्ति चारित्र पालन करना चाहिए। शारीरिक मोह और इद्रियो की लालसा पूर्ति के लिये यदि वह चारित्र धारण न कर सके, तो व्यवहार चारित्र की निन्दा करके जनता को तो भ्रम मे न डाले ।

—रतनचन्द्र जैन मुख्तार

सहारनपुर

# प्राक् वक्तव्य

## पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है

धर्म की परिभापा, व्याख्या और भाव जैन शास्त्रो मे यथा-स्थान मौजूद है। जिन्होने प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का क्रम से पारायण किया है वे उन सभी परिभापाओ का अनेक दृष्टिकोणो से समन्वय करके धर्म की वास्तविकता को समझते है, परन्तु जिनका उस प्रकार से क्रम-बद्ध स्वाध्याय नही है और 'पल्लवग्राही पाण्डित्य' के वल पर ही शास्त्रीय शब्दो का अर्थ करते-कराते है, वे स्वय तो भूलते ही है, साथ ही दूसरो को भी भुलाते है। धर्म को लेकर आज-कल यही हो रहा है। यहा हम अपनी ओर से कुछ न लिख कर धर्म की व्याख्या के विपय मे आचार्यो का दृष्टिकोण स्पष्ट करेगे।

आचार्य कुन्दकुन्द, जिनके समयसार के नाम पर व्रतादिरूप पुण्याचरण को विष्ठा की उपमा दी जाती है, धर्म की व्याख्या इस प्रकार करते है –

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो, उदयकरो भव्वजीवाण ॥ बो० पा० ॥

जिसमे विशुद्ध दया है वह धर्म है, जिसमे सर्व परिग्रह का त्याग है न वह दीक्षा है, जो मोह रहित है वह देव है। उनसे भव्य जीवो का कल्याण होता है।

दसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहि सिस्साण।
त रोऊण सकण्णे, दसणहीणो ण वदिव्वो ॥द० पा०॥

धर्म दर्शन—(सम्यग्दर्शन) मूलक होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। अपने कान से उसे सुनकर दर्शनहीन की वन्दना नही करना चाहिये।

एयारसदसभेय धम्म सम्मत्तपुव्वय भणिय।
सागारणगाराण उत्तमसुहसपजुत्तेहि ॥द्वा० अ०॥

गृहस्थो का दर्शनपूर्वक ग्यारह प्रतिमा रूप और मुनियो का दश भेद रूप धर्म उत्तम सुखसम्पन्न जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

वदसमिदिपालणाए दडच्चाएण इदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो सजमधम्मो हवे णियमा॥

व्रत समिति का पालन करना, मन-वचन काय की अशुभ प्रवृत्ति रोकना, इन्द्रियो का जीतना सयम धर्म है।

दाण पूजा मुक्ख सावयधम्मो ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयण मुक्ख जइधम्मे त विण तहा सोवि ॥र०सा०॥

दान देना, पूजा करना मुख्य श्रावक धर्म है, उसके विना कोई श्रावक नही हो सकता। ध्यान स्वाध्याय करना मुनियो का मुख्य धर्म है उसके विना उसी प्रकार कोई मुनि नही हो सकता।

चारित्त खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥ प्र० सा०॥

चारित्र ही धर्म है, धर्म साम्यभाव कहा गया है। मोह और क्षोभरहित आत्मा का परिणाम साम्यभाव कहा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा उल्लिखित इन धर्म की परिभाषाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का क्रियारूप आचरण और राग द्वेष की निवृत्ति दोनो ही धर्म है। वे जिस प्रकार राग-द्वेष

रहित साम्यभाव को धर्म कहते है उसी तरह प्रशस्तराग रूप दान पूजा व्रत समिति आदि को भी धर्म कहते है। यह प्रशस्त राग पुण्य रूप आचरण हैं। अत कुन्दकुन्दाचार्य पुण्य को भी धर्म मानते है। इस पुण्य को मलमूत्र कहना तत्त्व से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

इस विषय मे अन्य आचार्यो का भी अभिप्राय देखिये—

जइ मणइ को वि एव गिहवावारेसु वट्टमाणोऽवि।
पुण्णे अम्ह ण कज्ज ज ससारे सुवाडेई ॥ भा० स० ॥

अर्थ–यदि कोई यह कहे कि घर के कार्य करते हुए भी हमे पुण्य से कोई प्रयोजन नही है क्योकि वह ससार-भ्रमण का कारण है।

तो उसका यह कहना ठीक नही है।

मेहुणसण्णारूढो मारइ णवलक्खसुहमजीवाइ।
इय जिणवरेहि भणिय वज्भतरणिग्गथरूवेहि ॥भा० स०॥

शास्त्र मे लिखा है कि गृहस्थ मैथुन करने मे न दिखाई देने वाले अनेक सूक्ष्म जन्तुओ का विनाश करता है।

गेहे वट्टत्तस्स य वावारसयाइ सया कुण तस्स।
आसवइ कम्ममसुह अट्टरउद्दे पवत्तस्स ॥ भा० स० ॥

सदा घर के अनेक काम करता हुआ गृहस्थ आर्त, रौद्र ध्यान मे प्रवृत्त होकर अशुभ कर्मो का आस्रव करता है।

जह गिरवई तलाए अणवरय पविसए सलिलपरिपुण्णे।
मणवयतणुजोएहि, पवसइ असुहेहि तह पाव ॥ भा० स० ॥

जिस तरह जल से भरे सरोवर मे पर्वत का पानी निरन्तर प्रवेश करता रहता है उसी तरह अशुभ मन, वचन, काय योगो से पाप कर्मो का आस्रव होता रहता है।

जाम ण छडइ गेह ताम ण परिहरइ इतय पाव ।
पाव अपरिहरतो हेग्रो पुण्णस्स मा चयऊ ॥ भा० स० ॥

इसलिए जव तक यह जीव घर नही छोडता तव तक उसका पाप दूर नही होता । इसलिये पाप का परिहार हुए विना इसे पुण्य करना नही छोडना चाहिए ।

ग्रामुक्क पुण्णहेउ पावस्सासव अपरिहरतो य ।
वज्झइ पावेण णरो सो दुग्गइ जाइ मरिऊण ॥ भा० स० ॥

यदि पापास्रव को दूर किये विना पुण्य के कारणो को छोड देता है तो वह पाप कर्म का वन्ध करेगा और मर करके दुर्गति को जावेगा ।

पुण्णस्स कारणाइ पुरिसो परिहरउ जेण णिय चित्त ।
विसयकसाय पउत्त णिग्गहिय हयपमाएण ॥ भा० स० ॥

पुण्य के कारण उसी पुरुप को छोडने चाहिये जिसने प्रमाद रहित होकर विषय कपायो मे प्रयुक्त मन का निग्रह कर लिया हो ।

गिहवावारविरत्तो गहिय जिणलिग रहियसपमाओ ।
पुण्णस्स कारणाइ परिहरउ सयावि सो पुरिसो ॥भा० स०॥

जो घर के कामो से विरक्त है, जिसने जिनदीक्षा ग्रहण की है, जो प्रमाद रहित है, वह पुण्य के कारणो का त्याग करे ।

असुहस्स कारणेहि य कम्मच्छक्केहि णिच्च वट्टतो ।
पुण्णस्स कारणाइ वधस्स भयेण णेच्छतो ॥ भा० स० ॥
ण मुणइ इय जो पुरिसो जिणकहिय पयत्थणवसरूव तु ।
अप्पाण सुयणमज्झे हासस्स य ठाणय कुणई ॥ भा० स० ॥

अर्थ—अशुभ कर्मवन्ध के कारणभूत छह काय के जीवो की

विराधना द्वारा कर्मबन्ध करता हुआ वन्ध के भय से जो पुण्य के कारणो को नही चाहता, वह मनुष्य जिनेन्द्रकथित नव पदार्थों के स्वरूप को न मानने वाला सज्जनो के बीच में अपने को हँसी का पात्र बनाता है।

पुण्ण पुव्वाचरिया दुविह अक्खति सुत्त उत्तीए।
मिच्छपउत्तेण कय विवरीय सम्मजुत्तेण ॥ भा० स० ॥

अर्थ – पूर्वाचार्यों ने आगम के अनुसार पुण्य दो प्रकार का बताया है, एक मिथ्यात्वसहित पुण्य, दूसरा सम्यत्वसहित पुण्य।

मिच्छादिट्ठी पुण्ण फलइ कुदेवेसु कुणरतिरियेसु।
कुच्छियभोगधरासु य कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ भा० स० ॥

अर्थ – मिथ्यादृष्टि का पुण्य नीच देवो मे, नीच मनुष्यो मे तिर्यचो मे फलता है तथा कुपात्रदान से कुभोगभूमि प्राप्त होती है।

सम्मादिट्ठी पुण्ण, ण होइ ससारकारण णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउ जइवि णियाण ण सो कुणइ ॥भा०स०॥

अर्थ–सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नही है, वह सम्यग्दृष्टि यदि निदान (आगामी सासारिक सुखो की इच्छा) न करे तो मोक्ष का ही कारण है।

अर्थात्–सम्यग्दृष्टि मनुष्य मर कर देवो मे उत्पन्न होता है, वहा विविध प्रकार के भोगो को भोग कर आयु के क्षय होने के बाद उत्तम मनुष्य कुल मे जन्म लेता है। वहाँ पर भी मनुष्य क्षेत्र के अनुपम सुख भोग कर सयम धारण करता है और उस दीर्घकालीन पुण्य के प्रभाव से केवल ज्ञान तथा यथाख्यात सयम को प्राप्त कर नियम से सिद्ध हो जाता है।

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्ण मोक्खस्स कारण हवई।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्ण चायरउ जत्तेण ॥ भा० स० ॥

अर्थ—इसलिये सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, ऐसा जान कर गृहस्थ को प्रयत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करना चाहिये।

पुण्णस्स कारण फुडु पढम ता हवइ देवपूजा य।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाए॥ भा० स०॥

अर्थ—पुण्य का कारण पहला देव-पूजा है, श्रावकवर्ग को इसे परम भक्ति से करना चाहिये।

उक्त सब प्रकरण आचार्य देवसेन के भावसग्रह से उद्धृत है, ये देवसेन वे ही है जिन्होने अपने दर्शनसार मे कुन्दकुन्द आचार्य के दिव्यज्ञान की प्रशसा करते हुए उनके उपकार को स्मरण किया है। उनका स्पष्ट कथन है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से मुक्ति का कारण है और ऐसा न मानने वाला क्या हसी का पात्र नही है? हम नही समझते कि आचार्य देवसेन से अधिक श्री कुन्दकुन्द को समझने वाला आज कोई व्यक्ति है।

शुद्ध चैतन्य की प्राप्ति इसी पुण्य कर्म से होती है, इसके और प्रमाण देखिये—

जिनेशस्य स्नानात् स्तुतियजनजपान्मन्दिरार्चाविधाना—
च्चतुर्धादानाद्वाध्ययनखजयतो ध्यानत सयमाच्च।
व्रताच्छीलात्तीर्थादिकगमनविधे क्षान्तिमुख्यप्रधर्मात्,
क्रमाच्चिद्रूपाप्ति र्भवति जगति ये वाछकास्तस्य तेषाम्॥१॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करने से, उनकी स्तुति पूजा जप करने से, शास्त्रो का अध्ययन करने से, इन्द्रियो के जीतने से, ध्यान करने से, सयम से, व्रत से, शील से, तीर्थादि की यात्रा करने से, उत्तम क्षमा आदि धर्मो के पालने से शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति होती है।

गृहिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं षट्कर्मपालने ।
व्रतागीकरणे पश्चात् सयमग्रहणे तत ॥
यतिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्व सयमपालने ।
चिद्रूपचिन्तने पश्चादयमुक्तो वुधै क्रम ॥ त० ज्ञा० त० ॥

अर्थ–गृहस्थ को पहले षट् कर्म (देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय, दान आदि छह पुण्य कार्य) पालन की शिक्षा दी जानी चाहिये, उसके वाद व्रत पालने की शिक्षा देना चाहिये, फिर सयम ग्रहण करने की शिक्षा देना चाहिए ।

मुनि को पहले सयम (महाव्रत समिति आदि पुण्य कार्य) पालन की शिक्षा देना चाहिये, फिर चैतन्य स्वरूप के चिन्तन मे उसे प्रवृत्ति करना चाहिए, विद्वानो ने यही क्रम वतलाया है ।

इस प्रकार पुण्य की ग्राह्यता के सवध मे पूर्वाचार्यो के उद्‌गार अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे प्रकट किये गये है ।

## जड़ क्रिया और धर्म

व्रत उपवास पूजा आदि को जडक्रिया (शरीर की क्रिया) कहकर उसे धर्म न मानना उत्सूत्र भाषण है क्योकि यदि पुण्य क्रियाऐ जडक्रियाऐ है तो पाप क्रिया भी जड की ही क्रियाऐ कहलाऐगी । हिसा आदि करना, अभक्ष्य-भक्षण करना आदि सभी तो जड शरीर के द्वारा ही होता है, यदि पुण्यक्रियाऐ धर्म नही है तो ये पाप क्रियाऐ अधर्म नही हो सकती । इस सवध मे आचार्य कुन्दकुन्द ने अच्छा स्पष्ट विवेचन किया है ।

वे कहते है कि यदि जड कर्म ही शुभ (पुण्य) अशुभ (पाप) सव कुछ करते है तो ऐसा कहने वाले के यहाँ कोई मनुष्य परस्त्री सेवन करता हुआ भी परस्त्रीगामी नही कहलायग

क्योकि उसके मत मे पुरुप वेद कर्म ही स्त्री की अभिलापा करता है और कोई स्त्री व्यभिचारिणी नही कहलायगी क्योकि उसके मत मे स्त्री-वेद कर्म ही पुरुष की अभिलापा करता है। न कोई किसी का हिसक होगा क्योकि कर्म ही दूसरे का घात करता है। श्री कुन्दकुन्द ने अपने इस कथन को समयसार मे ३३२ से ३४४ तक की १३ गाथाओ द्वारा वहुत सुन्दर लिखा है। यहा पर हम उक्त समर्थन मे केवल दो गाथाऐ लिखते है–

पुरिसित्थयाहिलासी इत्थीकम्म पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरिय परपरागदा एरिसी दु सुदी ॥३३६॥
तम्हा ण कोवि जीवा अवभचारी दुअम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्म चेव हि कम्म अहिलसदि इदि भणिय ॥३३७॥

अर्थ–पुरुषवेद कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है, स्त्री वेद कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है, यह आचार्य परम्परा से आई हुई श्रुति है, अत तेरे (पुण्य पाप को जड-क्रिया मानने वाले के) मत मे कोई अब्रह्मचारी (व्यभिचारी) नही है क्योकि कर्म (जड) ही कर्म (जड) की अभिलापा करता है।

जैनागम मे वस्तु-व्यवस्था अनेकान्त के आधार पर की गई है, एकान्त के आधार पर नही, उसे आखो से ओझल कर जो एकान्त कथन से वस्तुतत्व का निर्णय करना चाहते है, वे श्री कुन्दकुन्द आचार्य के अनुयायी नही हो सकते।

—लालबहादुर शास्त्री एम० ए०
साहित्याचार्य

# गुरु किसको कहा जाय

(मोक्षमार्ग प्रकाश अध्याय ६ पृष्ठ २७२)

जैन शास्त्रो मे परिग्रह-रहित निर्ग्रन्थ को ही गुरु कहा गया है।

वहुरि वह कहे है, एक अक्षर के दाता को गुरु माने है। जो शास्त्र सिखावे वा सुनावे, तिनिको गुरु कैसे न मानिये ?

ताका उत्तर गुरु नाम वडे का है। सो जिस प्रकार की महतता जाके सभवे, तिस प्रकार ताको गुरु सज्ञा सभवे। जैसे कुल अपेक्षा माता पिता को गुरु सज्ञा है, तैसे ही विद्या पढाने वाले को विद्या अपेक्षा गुरु सज्ञा है। यहा तो धर्म का अधिकार है, ताते जाके धर्म अपेक्षा महतता सभवे, सोई गुरु जानना। सो धर्म नाम चारित्रका है। "चारित्त खलु धम्मो" ऐसा शास्त्र विषे कहा है। ताते चारित्रधारक ही को गुरु सज्ञा है।

बहुरि जैसे भूतादिक का नाम देव है, तथापि यहाँ देव का श्रद्धान विषे अरहत देव ही का ग्रहण है, तैसे औरनि का भी नाम गुरु है, तथापि यहा श्रद्धान विषै निर्ग्रन्थन ही का ग्रहण है। सो जिन धर्म विषे अरहत देव, निर्ग्रन्थ गुरु ऐसा प्रसिद्ध वचन है।

यहा प्रश्न—जो निर्ग्रन्थ विना और गुरु न मानिये सो कारण कहा ?

ताका उत्तर—निर्ग्रन्थ विना अन्य जीव सर्व प्रकार करि

महतता नाही धरे है, जैसे लोभी शास्त्र व्याख्यान करे, तहाँ वह वाको शास्त्र सुनावने ते महत भया। वह वाको धन वस्त्रादि देने ते महत भया। यद्यपि बाह्य शास्त्र सुनाने वाला महत रहे, तथापि अतरग लोभी होय, सो दाता को उच्च माने। अर दातार लोभी को नीचा माने ताते वाके महतता न भई।

बहुरि निर्ग्रन्थ विना अन्य जीव जैसा धर्म साधन करै, तैसा वा तिसतै अधिक गृहस्थ भी धर्म साधन कर सकै। तहाँ गुरु सज्ञा किसको होय? ताते बाह्य अभ्यतर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मुनि है, सोई गुरु जानना।

— ❀ —

# चारित्र का माहात्म्य

(दिवगत पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी)

पर्याय की सफलता सयम से है। मनुष्य भव मे देव पर्याय से भी उत्तमता इसी सयम की मुख्यता से है।

शुभोपयोगिनी क्रिया पुण्य-जननी है, उसे वैसा ही मानना किन्तु न करना यह कहा का सिद्धान्त है। मन्द कपाय का भी तो बाह्य प्रवृत्ति से सम्बन्ध है। इसका सर्वथा निपेध वुद्धि मे नही आता। अत जिन्हे आत्महित करना है उन्हे बाह्य मे अपनी प्रवृत्ति निर्मल करनी ही होगी। बादाम के ऊपरी भाग के भग किए विना बिजी का छिलका दूर नही हो सकता। जव तक हमारी प्रवृत्ति भोजनादि क्रियाओ मे आगमोक्त न होगी केवल वचनवल और पाण्डित्य के बल पर कल्याण नही हो सकता।

यदि आगम ज्ञान सयम भाव से रिक्त है तव उससे कोई लाभ नही।

वही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी है जो श्रद्धा के अनुकूल ज्ञान और चारित्र का धारी हो।

शान्ति का स्वाद तभी आ सकता है जब श्रद्धा के साथ-साथ चारित्र गुण की उद्भूति हो।

कपायो के कृश करने का निमित्त चरणानुयोग द्वारा निर्दिष्ट यथार्थ आचरण का पालन करना है।

जिनकी प्रवृत्ति चरणानुयोग द्वारा निर्मल हो गई है वे ही स्वपर कल्याण कर सकते है।

रागादि निवृत्ति के अर्थ चरणानुयोग है। केवल पदार्थ के निरूपण करने मात्र से प्रयोजन की सिद्धि नही होती।

जब तक चारित्र गुण का निर्मल परिणमन न होगा तव तक राग द्वेप की कलुषता नही छूट सकती।

वही ज्ञान प्रशसनीय है जो चारित्र युक्त है। चारित्र ही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

अविरत अवस्था मे वीतराग भावो की शाति को अनुभव करने का प्रयास शशशृ ग तुल्य (खरगोश के सीगो के समान असभव) है।

केवल वचनो की चतुरता से शाति लाभ चाहना मिश्री की कथा से मीठा स्वाद लेने जैसा प्रयास है।

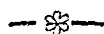
पद के अनुसार शाति आती हे। गृहस्थावस्था मे वीतराग अवस्था की शाति की श्रद्धा तो हो सकती है परन्तु उसका स्वाद नही आ सकता। भोजन वनाने से उसका स्वाद आ जावे यह सभव नही, रसास्वाद तो चखने से ही आवेगा।

(वर्णी वाणी प्रथम भाग)

[illegible]

[illegible] इसीलिये किसी भी शास्त्रकार ने [illegible] शुभोपयोग को [illegible] नहीं कहा। प्रवचनसार की गाथा ११ की व्याख्या करते हुए श्रीमदमृतचन्द्र सूरिजीने भी 'यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते' लिख कर शुभोपयोग को 'कथंचित् विरुद्ध कार्यकारि चारित्र' बतलाया है। अतः बन्धक होने के कारण शुभोपयोग यद्यपि हेय है तथापि सराग चारित्र के रूप में वह मुनियों तक के [illegible]

है। जब तक राग है तब तक शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति से एकाततः बचना सभव नही है। और जिस स्थिति मे आज का गृहस्थ रहता है उस स्थिति मे तो शुभोपयोग की तो बात ही क्या, अशुभोपयोग से ही एकान्तत बचना सभव नही है। अत आज के युग मे तो गृहस्थो को अशुभोपयोग से बचाने के लिये अशुभोपयोग-मूलक प्रवृत्तियो का ही विशेष रूप से विश्लेषण करने की आवश्यकता है जिससे साधारण गृहस्थ अशुभोपयोग से बचकर कम से कम शुभोपयोग मे तो लग जाये। और जब शुभोपयोग मे लग जाये तो उसे शुभोपयोग को हेय बतलाकर शुद्धोपयोग के लिये प्रेरित करना उचित है। अमुमुक्षुजनो मे शुभोपयोग की ही चर्चा रहती है और उसे ही धर्म माना जाता है। जब कि यथार्थ मे शुभोपयोग धर्म की कोटि मे नही आता, किन्तु वह अशुभोपयोग की तरह अधर्म नही है। और अशुभोपयोगी के लिये तो वही धर्म है। अत इस विषय मे उसी शैली को अपनाने की आवश्यकता है, जिसे आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र सूरि ने अपनाया है।



मुमुक्षुजन चारित्र पर जोर देने वाले अ-मुमुक्षुजनो के लिये अक्सर यह कहा करते है कि 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो। पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' और अ-मुमुक्षुजन मुमुक्षुजनो को कहते है कि ये कोरे निठल्ले बैठकर ज्ञान की बाते बघारते है। इन्हे कुछ करना धरना पडता नही, इसी से इन्हे यह कोरी ज्ञान चर्चा रुचिकर लगती है। आदि।

इस प्रकार के पारस्परिक आक्षेप प्रतिक्षेपो से पारस्परिक कटुता ही बढती है दोनो पक्षोको अपनी अपनी कमिया दूर करके आत्महित मे लगना चाहिये और पारस्परिक खीचातानी का

भाव दूर करके विवेक से काम लेना चाहिये। निरपेक्ष एकान्तवाद सर्वत्र बुरा है चाहे वह किसी भी क्षेत्र मे क्यो न हो। किंतु मनुष्य की यह कमजोरी हे कि वह जिस तत्त्व को अपनाता है उसीका आग्रही बन जाता है और फिर उसे अपने उस आग्रह को छोडते हुए अपना पक्ष नीचा होने की भावना सताने लगती है। और इससे धीरे-धीरे वह दुराग्रही बन जाता है। इसी से समयसार मे व्यवहार नय को अभूतार्थ और निश्चय नय को भूतार्थ कह कर भी समयसार को पक्षातीत कहा है और इस तरह से उस अवस्था मे निश्चयनय का पक्ष ही जाता रहता है किन्तु शुद्धात्मा की अनुभूति के लिये तो निश्चयनय ही एकमात्र उपादेय है। व्यवहारावलबी को शुद्ध आत्मानुभूति त्रिकाल मे भी नही हो सकती। इसलिये मोक्षमार्ग को निश्चयमूलक माना गया है। किन्तु प्रथमपद मे स्थित जनो के लिये व्यवहारनय हस्तावलम्बरूप होता है उसका सहारा पाकर ही मुमुक्षु आगे बढता है। किन्तु जो उस हस्तावलब को ही अपनाकर बैठ जाते है और उसे ही उपादेय मानने लगते है वे मोक्षमार्ग से दूर भटक जाते है। इसी तरह जो प्रारम्भ से ही व्यवहार को सर्वथा हेय मानकर एकमात्र निश्चयनय को ही उपादय मानने लगते है और उसी के गुण गाकर बैठे रहते है और व्यवहार धर्म की क्रिया को मिथ्यात्व मानकर नही करते, उनकी गति भी व्यवहाराभासियो से अच्छी नही होती। अत व्यवहार निश्चय सापेक्ष और निश्चय व्यवहार सापेक्ष होकर ही उपयोगी होता है।

जैन सन्देश नवम्बर, १९६१

नमः श्री वर्द्धमानाय

# सोनगढ़–सिद्धान्त

## जैन संस्कृति

जगत्पूज्य श्री १००८ भगवान ऋषभनाथ ने जब एक हजार वर्ष तक कठिन तपस्या करके केवल ज्ञान प्राप्त किया, तब वीतराग सर्वज्ञ बनकर उसका नाम तमाम दुनिया मे 'जिन' मशहूर हुआ। उस अर्हन्त दशा मे जो उन्होने आत्मा से परमात्मा बनने का उपदेश सारी जनता को दिया, उस आत्मा की शुद्धि के मार्ग का नाम उनके प्रसिद्ध नाम 'जिन' के अनुसार 'जैनधर्म' पडा।

उनके बाद जो २३ तीर्थंकर और हुए उन्होने भी सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्त बनकर अपने-अपने जमाने मे उसी जैन धर्म का प्रचार किया। उनके पद-चिन्हो पर चलने वाले असख्य ऋषियो ने भी अपने-अपने समय मे जैनधर्म का प्रचार किया।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी अब से २५६२ वर्ष पहले हुए है, इस समय उनका ही शासन चल रहा है। उनके ही पदचिन्हो पर चलकर उनके अनुयायी मुनि आचार्यो ने जैन धर्म की सस्कृति को कायम रखा। इस तरह आज तक जो जैन सस्कृति कायम है, वह करोडो वर्षो पहले से चली आ रही है।

इस सस्कृति को तीन हिस्सो मे बाटा जा सकता है—१—श्रद्धा २—आचार और ३—विचार।

श्रद्धा के रूप में जैन स्त्री-पुरुष वीतराग भगवान को अपना उपास्य देव, उसकी वाणीमय शास्त्रो को अपने आचार-विचार के लिए विधायक ग्रन्थ और निर्ग्रन्थ महाव्रती मुनि को अपने

धर्मनेता के रूप मे गुरु मन-वचन-काय से वन्दनीय मानते है।

आचार के रूप मे **अहिसा** इस सस्कृति की जड है। अहिसा के आचरण के लिये ही हर एक जैन स्त्री-पुरुष पाक्षिक श्रावक के रूप मे शराब नही पीता, मास नही खाता, शहद नही खाता, ५ उदम्वर फल नही खाता, न किसी जीव की हत्या करता है। अपने आरम्भ, उद्योग तथा सुरक्षा के कार्यो मे होने वाली हिसा से भी सावधान रहता है। जल को छान कर पीना, रात्रि को भोजन न करना आदि प्रवृत्तिया गृहस्थ जैन की अहिसा रूप आचार के पोषण के लिये होती है।

विपयभोगो की लोलुपता घटाने के लिये तथा इन्द्रियो की गुलामी को दूर करके आत्म-शुद्धि की ओर सलग्न होने के लिये ही जैन नर-नारी पर्व दिनो मे, तथा अष्टान्हिका, दगलक्षण, षोडशकारण आदि के दिनो मे ब्रह्मचर्य, उपवास, एकाशन, हरित वनस्पति-भक्षण-त्याग किया करते है।

तथाच-नैष्ठिक श्रावक के रूप मे ग्यारह प्रतिमा रूप चारित्र मे से यथासम्भव आचरण का पालन होता है और समस्त घरवार, कुटुम्व परिवार, आरम्भ परिग्रह का त्याग करके महाव्रती मुनि चारित्र का आचरण भी आत्मा की अधिक शुद्धि के लिये आचार के रूप मे किया जाता है।

विचार के रूप मे अनेकान्त-रूप स्याद्वाद को प्रमाण नय निक्षेप के साथ स्वीकार किया जाता है।

इस तरह श्रद्धा, विचार, आचार के रूप मे जैन सस्कृति अभी तक चली आ रही है।

लेकिन जव से श्री कानजी स्वामी ने सोनगढ मे समयसार का सहारा (आड) लेकर नया प्रचार शुरू किया है तव से जैनसस्कृति को दिन पर दिन हानि पहुचती जा रही है।

कानजी स्वामी देवशास्त्र गुरू को पर-पदार्थ बताकर आत्मशुद्धि के लिए अनुपयोगी तथा व्यर्थ बताते हुए, श्रद्धा सस्कृति पर कुठाराघात कर रहे है।

निश्चयनय का, नियतिवाद का, व्यवहार नय की असत्यता का, व्यवहार चारित्र की त्याज्यता का एकान्त सिद्धान्त बताकर स्याद्वाद सिद्धान्त की जड पर प्रहार कर रहे है।

कानजी खुद किसी भी तरह का चारित्र न पालकर और मुनि, श्रावक के व्यवहार चारित्र को जड शरीर की क्रिया बताते हुए उसे त्याज्य (छोडने लायक) कहते है, इस तरह वे आचार की भी जड हिला रहे है।

इस ढग से कानजी भाई जैन सस्कृति को उखाड फेकने की कोशिश मे लगे हुए है। मुख से तो कुन्द-कुन्द आचार्य को वे अपना गुरु कहते है लेकिन हृदय से न तो उनकी वाणी द्वारा श्रद्धा प्रकट होती है, न उनके स्याद्वाद सिद्धान्त पर अमल करते है और न उनके पद-चिन्हो पर चलकर श्रावक या मुनि के चारित्र का आचरण करते है।

भोले-भाले लोग, जो जैन सिद्धान्त को नही समझते, वे उनकी बातो मे आकर श्रद्धा आचार-विचार से शिथिल होते जा रहे है। यह जैन समाज तथा जैन सस्कृति के लिये दुर्भाग्य की बात है।

इसलिए अपने धर्मप्रेमी भाई-बहिनो मे धर्म की श्रद्धा **कायम** रखने के ख्याल से मैने यह छोटी-सी पुस्तक लिखी है। इसमे मैने श्री प० मक्खनलाल जी व्याख्यान वाचस्पति दिल्ली की पुस्तक को देखकर तथा कानजी स्वामी के समयसार प्रवचन से मिलाप करके कुछ बातो पर रोशनी डाली है। मुझे ऐसा लगता है कि जिस तरह स्वामी दयानन्द ने वेदो का सहारा लेकर **आर्यसमाज** नामक नया पथ चलाया, उसी तरह कानजी

स्वामी भी **समयसार** का नाम लेकर जैन सस्कृति से रहित एक नया पथ चलाना चाहते है।

आज का **इसान** वैसे ही श्रद्धा आचार-विचार के किसी बन्धन मे रहना पसन्द नही करता। स्वच्छन्द रहकर ससार के **विषय भोगो में** लगा रहना चाहता है। इस पर कानजी स्वामी के उपदेश का सहारा उसे और मिल जावे तब '**करेला नीम पर चढा**' (करेला वैसे ही कडवा होता है, अगर उसकी वेल नीम के वृक्ष पर चढ जावे, तव तो उस वेल के करेले मे अपने आप और भी ज्यादा कडवाहट आ जाती है) कहावत के अनुसार विषयलोलुपी लोगो को और भी स्वच्छन्दता मे सहारा मिल जाता है। '**आत्मा को शुद्ध बुद्ध**' समझ लेने मात्र से धर्म की जरूरत पूरी हुई समझ लेते है। इस तरह विना कुछ किये सिर्फ ज्ञान से मुक्ति पा लेने का भ्रम उनके मन मे घर कर जाता है।

जैन समाज की इस सास्कृतिक हानि से जनता को सचेत करने के ख्याल से यह पुस्तक लिखी गई है। सब भाई बहिन इसको शुरू से आखिर तक जरूर पढे।

## कानजी स्वामी

श्री कानजी स्वामी ने समयसार का स्वाध्याय करके स्थानकवासी साधु का रूप छोड दिया, दिगम्बर मत स्वीकार किया है, परन्तु अब उन्होने क्या रूप धारण किया है, यह बात समझ मे नही आती क्योकि वे न तो दिगम्बर साधु के रूप मे है, न वे ऐलक क्षुल्लक ब्रह्मचारी के रूप मे है। जब वे ढूढिया साधु थे तब सदा पैदल विहार करते थे, अब मोटर मे भी विहार किया करते है। उस समय उनके पहनने, ओढने, विछाने आदि के लिये कपडे थोडे सीमित थे, अब उनकी कोई सीमा नही रही।

इस समय आपकी भोजन पान की भी कोई मर्यादा नही है। शास्त्र पढते पढते बीच मे भी पानी पिया करते है। पास मे रखे हुए पीकदान को उठा कर उसमे थूक देते है और बिना हाथ धोये फिर उसी हाथ से शास्त्र उठाकर पढने लगते है। कभी व्रत उपवास आप करते नही क्योकि उसको आपने **'जड क्रिया'** कह कर छोड दिया है। शायद उनके **खयाल** मे 'जड पदार्थ व्रत उपवास करते हे, आत्मा इन्द्रियो को अपने वश मे करने के लिये तथा विषय भोगो से विरक्त होने के लिये व्रत उपवास आदि नही करता।'

अपने शरीर को तन्दुरुस्त रखने के लिये प्रतिदिन सबेरे हवाखोरी के लिये घूमने भी जरूर जाते है।

जब दिल्ली मे आये थे तब कुतुबमीनार आदि इमारते देखने के लिये भी घूमते रहे।

## रजस्वला स्त्री के हाथ का भोजन

शरीर की अशुद्धता को आप अशुद्धता नही मानते, इसी लिये आप सोनगढ की एक बाई के हाथ से भोजन लिया करते है। अगर वह बाई रजस्वला होती है तो भी आप उसके ही हाथ से भोजन लिया करते है।

सोनगढ गये हुए विश्वस्त सूत्रो से मालूम हुआ है कि कलकत्ता निवासी आपके एक भक्त ने आपके लिये भोजन बनवाया। उस भाई के चौके मे आकर सोनगढ की उस बाई ने आपको अपने हाथ से भोजन कराया। वह उस दिन रजस्वला थी लेकिन आपने बिना सकोच के उसके हाथ से भोजन लिया। इस पर कलकत्ता के उन भाई को तथा उनकी पत्नी को बहुत अरुचि हुई और उन्होने अपनी बची हुई भोजन-सामग्री फेक दी तथा चौका बर्तन फिर शुद्ध किये।

ऐसी ही घटना गया की एक धर्मात्मा महिला के साथ हुई।

कानजी स्वामी का खयाल है कि रजस्वला होना जड शरीर का काम है, उससे आत्मा का कुछ सबध नही । इसी लिये सोनगढ के महिलाश्रम की स्त्रिया रजस्वला के दिनो मे पूजा, शास्त्र छूकर स्वाध्याय आदि नि सकोच होकर करती है।

रज और वीर्य को खून, पीप तथा टट्टी, पेशाब की तरह अपवित्र माना गया है, इसीलिये सब जगह तीन दिन तक स्त्रियाँ रजस्वला के दिनो मे अपवित्रता के कारण न रसोई बनाती है, न पूजा आदि करती है और न धर्मशास्त्रो को छुआ करती है। लेकिन कानजी स्वामी ने सोनगढ मे इस अपवित्रता का विचार हटवा दिया है ।

बहिरग-शुद्धि अन्तरग-शुद्धि की कारण है, टट्टी से लिपटा हुआ मनुष्य जब अपने शरीर की टट्टी जल से धोकर तथा स्नान करके शरीर शुद्ध नही कर लेता, कपडो मे पेशाब या खून, पीप लग जाने के बाद जब तक उस कपडे को धो नही लेता तब तक न पूजा करता है, न शास्त्र छूता है और न भोजन करता है क्योकि उस बाहरी अपवित्रता की ग्लानि उसके मन मे बनी रहती है।

रज तो मल-मूत्र आदि से भी ज्यादा अशुद्ध दुर्गन्धित खून होता है, उसकी वायु लगने से बनते हुए पापड काले पड जाते है, रजस्वला स्त्री को देख कर काला सर्प अन्धा हो जाता है। ऐसे अपवित्र रजस्राव के दिनो मे स्त्रिया रसोई, पूजा आदि, शास्त्र छूना आदि कोई काम नही करती, न किसी और स्त्री-पुरुष को छूती है। लेकिन कानजी महाराज ने उस बात को हटा दिया।

## सत् गुरुदेव

जैनधर्म मे महाव्रतधारी मुनि को गुरु माना गया है, परिग्रही

अविरती को गुरु जैन सम्प्रदाय मे कही भी नही बतलाया गया। मुसलमानी राज्य के समय जब मुनि नही होते थे तब भट्टारक होते रहे लेकिन उन्होने भी अपने बनाये हुए ग्रन्थो मे कही भी परिग्रहधारी अव्रती को 'गुरु' नही लिखा। भगवान आदिनाथ से लेकर अब तक निर्ग्रन्थ मुनि को ही 'गुरु' माना जाता रहा है।

चारित्र-रहित परिग्रही को गुरु मानना **गृहीत मिथ्यात्व** तथा **गुरुमूढता** बतलाया है।

लेकिन कानजी स्वामी अविरती तथा परिग्रहधारी होते भी 'गुरु' ही नही **'सद्गुरुदेव'** बने हुए है। उनके चित्रो मे **'सद् गुरु देव'** छपा हुआ रहता है, उनके भक्त उनको **सद् गुरुदेव** मान कर उनके पैर थाल मे धोते है, आरती उतारते है।

अपनी मान्यता मनाने के लिये ही कानजी दिगम्बर महाव्रती मुनियो को द्रव्यलिङ्गी कह कर उनकी निन्दा करते है, जब कि कानजी स्वामी खुद न द्रव्यलिङ्गी है और न भावलिङ्गी है। दूसरे का द्रव्यलिङ्ग भावलिङ्ग जानने के लिये अवधिज्ञान मनपर्यय ज्ञान या केवल ज्ञान की जरूरत है लेकिन कानजी स्वामी को अपना अगुरुपना नजर नही आता दूसरो का द्रव्यलिग मालूम हो ही जाता है।

इस तरह बिना अणुव्रत पाले और बिना आरम्भ परिग्रह का त्याग किये **'सद्गुरुदेव'** बन जाने का नया आविष्कार करके कानजी स्वामी ने मोक्षमार्ग सरल बना दिया है।

इसी सरल मोक्षमार्ग को देखकर भोली-भाली जनता तथा इन्द्रियो के दास विषय-लोलुपी ज्ञानी भी बिना किसी तपस्या व्रत नियम आखडी के **'मुमुक्षु'** (मोक्षमार्गी) बनते चले जा रहे है।

विषय भोगो का बिना त्याग किये जब खाली समय-सार सुनने से या शुद्ध आत्मा की चर्चा कर लेने से ही मोक्षमार्ग मिल

जावे तब तप, त्याग, सयम पालने की जरूरत भी क्या है। गुरु के पदचिन्हो पर ही चेलो को भी चलना चाहिये।

## मानस्तम्भ में मूर्ति

सोनगढ मे जो मानस्तम्भ वनाया गया है उसमे कानजी स्वामी की मूर्ति उकेरी गई है। उसी मानस्तम्भ मे श्री कुन्द-कुन्द आचार्य की मूर्ति भी वनाई गई है। मालूम हुआ है कि कानजी की मूर्ति कुन्दकुन्द आचार्य की मूर्ति से ऊपर वनाई गई है। इस तरह कानजी भाई ने आदर सम्मान मे अपना स्थान श्री कुन्दकुन्द आचार्य से भी ऊचा रखकर अपनी गुरु-भक्ति प्रकट की है।

कानजी के भक्तो ने सोनगढ का यह अनुकरण करके एक-दो और स्थानो पर भी मानस्तम्भ मे कानजी की मूर्ति उकेरी है। इस गलती का वुरा नतीजा भविष्य मे यह निकलेगा कि कि हमारी भावी पीढी यह समझेगी कि दिगम्बर जैन सम्प्रदाय मे कपडा पहनने वाला अव्रती मनुष्य भी गुरु होता है।

इस तरह दिगम्वर आम्नाय मे यह एक भ्रम फैलाने वाला नया रूप शुरू हुआ है। इसकी नीव कानजी भाई ने डाल कर दिगम्वर जैन सस्कृति को भारी हानि पहुँचाई है।

## मंदिर में कानजी के चित्र

दिगम्वर जैन मन्दिरो मे अर्हन्त भगवान की प्रतिमा विराजमान होती है जिसके दर्शन करने से वीतरागता का प्रभाव मन पर पडता है। अर्हन्त भगवान की वाणी जिनमे लिखी हुई है, ऐसे जैन शास्त्र विराजमान होते है जिनके स्वाध्याय से ज्ञान वैराग्य का उपदेश मिलता है। तथा निर्ग्रन्थ मुनियो के चित्र टागे जाते है जिनको देखने से मन पर ब्रह्मचर्य, वैराग्य, शान्ति की छाप लगती है।

इनके सिवाय और किसी मिथ्यात्वी गुरु के तथा चारित्र-रहित परिग्रहधारी मनुष्य के चित्र मन्दिर मे नही रखे जाते।

परन्तु अब कुछ दिनो से कुछ कानजी स्वामी के श्रद्धालु भाई कानजी स्वामी को अपना तरणतारण गुरु मान कर अपने दिगम्बर जैन मदिरो मे अविरती परिग्रही कानजी स्वामी का फोटो भी टागने लगे है। यह उनकी मिथ्यात्व फैलाने की दुर्भावना है तथा गुरु-मूढता की निशानी है।

इस तरह तो दिगम्बर जैन मन्दिरो मे दिगम्बरेतर साधुओ के भी चित्र टगने लगेगे।

मन्दिर के प्रवन्ध करने वालो को इस वुनियादी गलती का सुधार फौरन कर देना चाहिये, नही तो धीरे-धीरे मनचले भाई दिगम्बर जैन मन्दिरो के धर्मायतन रूप को विगाड देगे। फिर भोले भाले स्त्री पुरुष परिग्रहधारी को भी गुरुदेव समझने की मिथ्या श्रद्धा करने लगेगे।

इसलिये मन्दिर के मुखिया लोगो को तथा पचायतो को कानजी स्वामी का एक भी चित्र मदिर मे कही भी नही रखने देना चाहिये। अगर किसी आदमी ने पचायत को विना पूछे चालाकी से कही कोई कानजी स्वामी की फोटो टाग दी हो तो उसे फौरन वहाँ से हटा देना चाहिये। जिससे आगे मिथ्यात्व फैलने का मौका न मिले और न आपसी झगडे फिसाद की नीव पडे।

कीचड धोने से पहले कीचड मे पॉव न देना ही अच्छा है।

जैसे सोनगढ के मानस्तम्भ मे कानजी स्वामी की मूर्ति वना दी गई है, उसी तरह इन चित्रो की तरह हमारी गफलत से उनके भक्त कभी कानजी भाई की मूर्ति लाकर भी रख देगे।

## समयसार

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने ससारी जीवो को मोक्षमार्ग पर लगाने के लिए अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थो की टीकाये बनाई है उन सब मे मुख्य ग्रन्थ '**समयसार**' है।

समयसार मे शुद्ध आत्मा का कथन निश्चय नय से किया है और व्यवहार नय से भी आत्मा के कर्मबन्धन की दशा बतलाई है। इस तरह निश्चय नय तथा व्यवहार नय दोनो का यथास्थान वर्णन किया है।

समयसार के टीकाकारो ने भी एकान्तवाद से बचते हुए कुन्दकुन्द आचार्य के उद्देश्य के अनुसार समयसार की व्याख्या की है जिससे अभी तक कभी कोई वाद-विवाद पैदा नही हुआ परन्तु कानजी स्वामी ने अपना कल्पित प्रवचन करके समयसार की ऐसी निराधार तथा एकान्तवाद की पुष्टि करने वाली व्याख्या की है जिससे जैन सिद्धान्त को न जानने वाले भोले भाले स्त्री पुरुष भ्रम मे पड जाते है। ये धर्म की बातो को अधर्म समझने लगते है और एकान्त मिथ्यात्व को धर्म समझने लगते है। गृहस्थो के लिये अर्हन्त भगवान् तथा अन्य आचार्यो ने जो धर्मकार्य बतलाये है, उनको कानजी स्वामी ने समयसार के प्रवचन मे अधर्म बतलाया है।

## समयसार का स्वाध्याय

समयसार उच्चकोटि का ग्रन्थ है, उसका रहस्य समझने के लिये मनुष्य को नयो का, प्रमाण का, कर्मसिद्धान्त का, तत्वो का, गुणस्थान मार्गणाओ तथा चरणानुयोग का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिये। इतना ज्ञान हुए विना जो समयसार को पढने बैठ जाते हैं वे पडित वनारसीदास जी की तरह निश्चय और

व्यवहार दोनो धर्मो से भ्रष्ट हो जाते है।

लेकिन आज यह हालत चालू हो गई है जो स्त्री या पुरुष चार दिन सोनगढ रह आया कि वहाँ से आकर झट समयसार पढने बैठ जाता है। जिन बेचारो को छह द्रव्य और सात तत्वो के नाम तक नही आते, नयो और कर्मो के उदय बन्ध सत्ता का जरा भी ज्ञान नही, वे कानजी भाई की टीका लेकर दूसरो को समयसार सुनाने बैठ जाते है।

इस तरह भेडचाल की तरह समयसार के स्वाध्याय की दुर्दशा कर डाली है। तोते की तरह रटी हुई एक बात कह डालते है कि हमको तत्व, द्रव्य, कर्म, नय, गुणस्थान आदि जानने की क्या जरूरत है, खाली आत्मा को समझ लेने से मतलब है। उन अन्ध-श्रद्धालु भोले स्त्री पुरुषो को पता नही कि तत्व, कर्म, गुणस्थान नय आदि भी आत्मा को ही समझने के लिये है। इस तरह कानजी भाई ने यह गलत प्रथा चला दी है। इस प्रथा का उद्देश्य यही मालूम होता है कि भोली जनता अन्ध-श्रद्धालु बनती जावे, उसमे विवेक पैदा न हो।

## पुण्य विष्टा के समान है ?

कुन्दकुन्द आचार्य ने तथा और सभी आचार्यो ने हिसा, झूठ चोरी, व्यभिचार, परिग्रह आदि अशुभ पापक्रियाओ को छोड कर अहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, दान, पूजन आदि शुभ पुण्य कार्य करने का उपदेश अपने रयणसार, चारित्रपाहुड, नियमसार पुरुषार्थसिद्धि-उपाय आदि ग्रन्थो से दिया है परन्तु कानजी स्वामी उन पुण्य-कार्यो को विष्टा (टट्टी) के समान बतलाते है।

आपने समयसार प्रवचन, भाग पहला, पृष्ठ १२५ पर लिखा है

"इतना करो तो पुण्य होगा, फिर अच्छा सयोग मिलेगा

देवभव मे ऐसे सुख मिलेगे, ऐसा सुनकर जीव पुण्य को धर्म मानता है, किन्तु पुण्य का फल तो धूल है, उससे आत्मा को कलक लगता है। मनुष्य अनाज खाता है, उसकी विष्ठा भू ड नामक प्राणी खाता है। ज्ञानी ने पुण्य को जगत की धूल विष्टा समझकर त्याग दिया है, उधर अज्ञानी जन पुण्य को उमग से अच्छा मान कर आदर करता है। इस प्रकार ज्ञानियो के द्वारा छोडी गई पुण्य रूप विप्टा जगत के अज्ञानी जीव खाते हैं।"

सम्यग्दृष्टि जीव अगर गृहस्थी होता है तो दान पूजा, दया अहिसा आदि अणुव्रत रूप धर्म पालता है, मास आदि अभक्ष्य पदार्थ नही खाता। अगर वह मुनि होता है तो महाव्रत, गुप्ति, समिति आदि मुनि धर्म को पालता है। उन ही पुण्य कार्यो से आत्मा क्रम से शुद्ध होती हुई शुक्ल-ध्यान द्वारा पूर्ण शुद्ध हो जाती है, ऐसा आचार्यो ने उपदेश दिया है। कुन्दकुन्द आचार्य ने भी रयणसार, चारित्रपाहुड मे ऐसे पुण्य कार्यो को धर्म वतला कर उनके करने की प्रेरणा की है।

कानजी महाराज उन ही दान पूजा व्रत आदि पुण्य कार्यों को विष्टा (टट्टी) वता रहे है। पता नही कौन से ज्ञानी ने पुण्य कार्यो को विप्टा समझकर छोड दिया है। सभी मुक्तिगामी जीवो ने गृहस्थधर्म तथा मुनिधर्म-रूप पुण्य कार्यो को उत्साह के साथ किया है।

कानजी स्वामी खुद अपने आपको ज्ञानी मानते हे तो फिर वे खुद क्यो इन पूजा प्रवचन आदि विष्ठा के समान पुण्य कार्यो को कर रहे है ? क्या ये दान, पूजा आदि पुण्य काम दूसरो के लिये विष्टा के समान है, कानजी स्वामी के लिये तथा उनके शिष्यो के लिये विष्टा समान नही है ?

कौन से आचार्य ने कौन से ग्रन्थ मे पुण्य कार्यों को विष्ठा

के समान वतलाया है ? समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ को व्याख्या मे ऊटपटाग निराधार ऐसे गन्दे गलत शब्द लिखना कानजी भाई को ही शोभा देता है।

फिर आप समयसार प्रवचन, भाग पहला पृष्ठ, ४३१ पर लिखते है—

"जैसे गर्मी के दिनो मे किसी छोटे बालक को पतला दस्त हो जाये और वह उसे चाटने लगे तो वह उसकी ठडक से सतुष्ट होता है यह उसकी मात्र अज्ञानता ही है, इसी प्रकार चैतन्य-मूर्ति भगवान अविकारी आत्मा मन के विकल्पो से पृथक् है उसे भूल कर अपनी कल्पना से (विपरीत मान्यता से) माने गये धर्म के नाम पर और अपने हित करने के नाम पर शुभ भाव (चैतन्य स्वभाव के गुण की विकाररूपी विष्टा) को ठीक मानकर सतुष्ट होता है और मानता है कि इससे कुछ अच्छा होगा वह उस बालक के समान अज्ञानी है जो विष्टा को अच्छा मान रहा है।"

श्री कुन्दकुन्द आचार्य भाव-पाहुड की ७६वी गाथा मे **'सुह धम्म'** शब्दो द्वारा शुभ भावो को धर्मरूप कह रहे है और कानजी स्वामी उन ही आचार्य के समयसार की व्याख्या मे विना प्रकरण के मनगढन्त रूप से शुभ कार्यो को विष्ठा के समान बुरा लिख रहे है।

इस जमाने मे कानजी भाई के भी (किसी भी भरत क्षेत्रज के) शुद्ध भाव तो होते नही क्योकि पहला सहनन न होने से इस समय किसी को शुक्ल ध्यान नही होता फिर कानजी भाई तो अविरती भी है। इसलिये कानजी स्वामी के भी शुभ भाव ही होते है तो क्या आपके वे भाव विष्टा समान नही है ? और क्या वे उन शुभ भावो को करते हुए··· ······· वाले···बालक

समान आचरण नही करते ? (क्षमा करे शब्द आपके ही है ।)

पाठक महानुभाव उसके आगे देखिये, आप

समयसार प्रवचन, भाग दूसरा, पृष्ठ १६८, पक्ति १० मे लिखते है—

"वह अपनी भगवत्ता को भूलकर पुण्य पाप की विष्टा का आदर करता है किन्तु उसे यह भान नही है कि इस प्रकार तो अविकारी स्वतन्त्र स्वभाव की हत्या होती है ।

वाहर से पुण्य के घूरे दिखाई देते हैं सो वह—तेरी वर्तमान चतुराई या सयान का फल नही है ।"

यहा आपने पाप की तरह पुण्य को भी विष्ठा वता दिया है । इसका मतलव यह है कि मनुष्य पाप भी न करे और पुण्य आचरण भी न करे । तो फिर क्या करे ? कानजी महाराज कुछ ऐसा करके दिखलावे कि यह करो, सो कुछ नही । आप १२वे गुणस्थान वाले शुद्ध भाव करके दिखा देते, तव तो आपका कहना कुछ सार भी रखता । खुद प्रवचन करके, मदिर वनवाकर, दान दिलवाकर या लेकर जो पुण्य कर रहे है, वह घूरे की तरह नही है क्या ? जव आपने खुद पुण्य करना नहीं छोडा, न उनके किसी भक्त ने अव तक छोडकर दिखलाया फिर आपकी वर्तमान चतुराई किस काम आई ? वतलाइये आप पुण्य को करते हुए उसका आदर कर रहे है या निरादर ? पता नही वार-वार आपके मुख से विष्टा शब्द क्यो निकलता हैं ?

धर्म का भ्रामक रूप बतलाकर आप समयसार प्रवचन, भाग दूसरा, पृष्ठ ९, पक्ति ६ मे लिखते-है—

"दान पूजा इत्यादि शुभ भाव है और हिसा असत्य आदि अशुभ भाव है उन शुभाशुभ भावो के करने से धर्म होता है यह मानना सो त्रिकाल मिथ्यात्व है ।"

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'रयणसार' मे दान और पूजा को गृहस्थ का मुख्यधर्म बतलाया हे (दाण पूजा मुक्ख सावयधम्मे, ण सावया तेण विणा) तव कानजी भाई श्री कुन्दकुन्द आचार्य के शास्त्रीय विधान की अवज्ञा करके उस मान्यता को त्रिकाल (सदा रहने वाला) मिथ्यात्व वतला रहे है। हमारे पाठक खुद निर्णय करे कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य का लिखना ठीक है या कानजी भाई का ? मजे की वात यह हे कि कानजी भाई अपने यहा के मदिरो मे पूजा आरती हर रोज कराते है और लाखो रुपये का दान अपने शिप्यो से कराया करते हैं। तो क्या वे भक्तो से दान पूजा कराकर धर्म नही करा रहे, अधर्म करा रहे है ? इस तरह तो आपके कहे अनुसार मदिर धर्म के स्थान नही माने जाने चाहिये क्योकि मदिरो मे भगवान की पूजा होती है।

सोनगढ तथा सौराप्ट्र के अन्य मदिरो के वनाने मे जो आपके भक्तो ने दान दिया सो क्या उन्होने धर्म किया या अधर्म ?

समयसार प्रवचन, भाग दूसरा, पृ० २१२, प० १९ मे आप कहते है—

"जिसे ज्ञानियो ने विष्टा मान कर छोड दिया है। ऐसे पुण्य को अपना मान रहा है जो कि व्यभिचार है।"

पापको अपनाने वाला तो अज्ञानी होता है किंतु सम्यग्दृष्टि जीव जो अपने सम्यक्चारित्र रूप व्रत तप सयम से पुण्यकर्म उपार्जन करता है, वह तो ज्ञानी माना गया है। **षोडशकारण भावना** की पूजा होती है, वे षोडशकारण भावना पुण्य रूप है, सव मे उच्च पुण्य प्रकृति तीर्थंकर का उन भावनाओ से वन्ध होता है और उस पुण्य तीर्थंकर प्रकृति के उदय से दिव्यध्वनि द्वारा तीन लोक के कल्याणकारी धर्म की प्रवृत्ति होती है।

ऐसे पुण्य को विष्टा और व्यभिचार बताकर कानजी भाई कितनी निन्दाजनक बात कहकर भ्रम फैला रहे है! कोनसे मूर्ख-शिरोमणि ज्ञानी ने षोडशकारण भावनाओका और उनसे प्राप्त हुए तीर्थंकर रूप पुण्यकर्म तथा तीर्थंकर प्रकृति के पुण्य फल को छोडा, कृपया कानजी भाई उसका नाम तो बतावे ?

किसी भी आर्षशास्त्र ने सम्यग्दृष्टि के पुण्य को विष्ठा या व्यभिचार नही बतलाया। कही लिखा हो तो कानजी बतलावे।

श्री कानजी भाई ने पूर्व भव मे पुण्य किया था जिससे कि इस भव मे उन्होने स्वस्थ सुन्दर उच्चकुलीन मनुष्य भव पाया, प्रवचन करने की योग्यता पाई। उसी पुण्य भल का वे उपभोग कर रहे है और आगे के लिये पुण्यकर्म कमा रहे हे। पुण्यकर्म के फल रूप इन मनुष्यभव, उच्चकुल आदि बातो मे से आपने एक भी नही छोडी, तो आपके कहे अनुसार यह विष्टा और व्यभिचार है या नही? या आपके लिये तो पुण्य भोज्य स्वादिष्ट पदार्थ है तथा सदाचार है किन्तु दूसरो को पुण्य विष्टा और व्यभिचार है। पुण्य कर्म का फल भोगते हुए और पुण्यकर्म उपार्जन करते हुए आप ज्ञानी तो है ही ? ऐसी ही बात आपके सब शिष्यो की है।

श्री कानजी भाई समयसार प्रवचन, भाग दूसरा, पृ० ८७, पक्ति १९ मे कहते है—

"तू पर को अपना स्थान मानकर पुण्य पाप की विष्टा मे लोट रहा है।"

यहा सवाल सिर्फ यह है कि जब आप और आपके शिष्य अपनी आत्मा को समझते है तो इस मनुष्यभव, सुकुल, मनोहर वाणी, विभूतिमयी पुण्य विष्टा से अलग क्यो नही हो जाते ? इस विष्टा से अलग होकर दिखावे तो सही ? या आपकी कथनी

और करनी मे अन्तर है अथवा यह सिर्फ कहने रिझाने की बात है, अमल मे लाने की बात नही है? विष्टा शब्द आपके मुख से खूब निकलता है।

फिर आप समयसार प्रवचन, भाग पहला, पृ० १८५, प० १६ मे कहते है–

"शुभ भाव पुण्य बन्ध के भाव है और अशुभ भाव पाप बध के, दोनो विकार है।"

पापबध तो आत्मा को ससार सागर मे डुबाने वाला विकार है इसीलिये सम्यग्ज्ञानी पाप बध नही करता किन्तु सम्यग्ज्ञानी अपने वर्द्धमान चारित्र द्वारा पुण्यबन्ध तो किया ही करता है। वही पुण्य पक कर आत्मा को पावन कर देता है। अत न तो वह पाप के समान है, न हानिकारक विकार है। लेकिन आप खुद पुण्य-बन्ध करते हुए भी उसे विकार क्यो कह रहे है? यह विकार आपने अभी तक क्यो नही छोडा? इस जन्म मे आप उससे खुद छूट भी जायेगे या नही? इस बात का जवाब कानजी भाई या उनका कोई अविकारी शिष्य देकर जनता का भ्रम दूर करें।

फिर आप समयसार प्रवचन, भाग तीसरा, पृ० १७४, मे कहते है–

"पुराने पुण्य का फलित होना भी दु ख है और नवीन पुण्य का बध होना भी दु ख है।"

चरमशरीरी तद्भवमोक्षगामी आदिनाथ तीर्थकर ने षोडश-कारण भावनाओ द्वारा पूर्व भव मे पुण्य कर्मबन्ध किया था और उस पुण्य कर्म के फलका उन्होने उपभोग किया, भरत चक्रवर्ती बाहुबली, रामचन्द्र आदि अनेक शलाका पुरुषो ने पुण्यकर्म के फल से यशस्वी पद पाया, उसका फल भोगा उसी पुण्य उदय से

उनको वज्रऋषभनाराच सहनन, शुक्लध्यान के लायक शरीर मिला जिसके सहारे वे महाव्रती मुनि बनकर मोक्ष गये, अन्त समय तक अपने पुण्य शरीर का लाभ लेते रहे। इस तरह पुण्य कर्म और उसके फल से उनको सुख ही सुख हुआ, अनन्त सुख वाली मोक्ष भी उसी पुण्य शरीर द्वारा मिली। इसी लिये आचार्यों ने लिखा है—'**पुण्णफला अरहता**' यानी-पुण्य के फल से तीर्थंकर अर्हन्त होते है।

यद्यपि आपने वैसा पुण्य कर्म नही कमाया इस लिये आप जन्म-मरण के चक्कर से नही निकले लेकिन फिर भी थोडे पुण्य के फल से जो आपको यह शरीर मिला जिसके सहारे आप प्रचार कर रहे है और आगे के लिये पुण्य बाध रहे हं, सो भी क्या दुख है ? अगर है तो आप इससे अपने आपको छुडाते क्यो नही ? इस दु खमय शरीर आदि पुण्य फल का त्याग करके दिखलाइये।

इस तरह आपने पुण्य को विष्टा, व्यभिचार, फोडा, धूल आदि बताकर उसकी निन्दा तो खूब की है लेकिन उस पुण्यफल को अमल मे खुद ला रहे है। इसको कहते है।

दीगरा नसीहत, खुदरा फजीहत,
पर उपदेश कुशल बहुतेरे, परोपदेशे पाण्डित्य।

## चारित्र का तिरस्कार

कानजी स्वामी पहले स्थानकवासी महाव्रती साधु थे, जैसे उन्होने समयसार के स्वाध्याय से श्रद्धान बदला उसी तरह उसके साथ चारित्र भी बदल कर दिगम्बर महाव्रती मुनि बन जाते तो वे श्रद्धान ज्ञान चारित्र की मूर्ति बनकर कुन्दकुन्द आचार्य के सच्चे श्रद्धालु असली शिष्य होते। अगर इतनी शक्ति न थी तो क्षुल्लक आदि अणुव्रती चारित्र धारण करते। लेकिन शरीर-मोह से ऐसा न हो सका, जो वीर व्यक्ति शरीर के मोह पर और

इन्द्रियो की गुलामी पर विजय पा लेता है, वही सयम धारण कर सकता है, मोक्षमार्ग मे आगे वही बढता है।

ऐसा मालूम होता है कि आप मोक्ष पाने के लिये चारित्र की जरूरत नही समझते सिर्फ सम्यग्दर्शन से मुक्ति मानते है। तभी आपने अपने ग्रन्थो मे जगह-जगह चारित्र की तथा चारित्र-धारियो की दिल खोलकर निन्दा की है। शायद आप मुनियो की निन्दा करके अपना बडप्पन साबित करना चाहते है। लेकिन न तो चारित्र के बिना खाली सम्यक्त्व से मोक्ष मिलती है चाहे सैकडो भव धारण करे और न चारित्र बिना जीवन ऊचा बनता है।

चारित्र के लिये आपके दिल मे कैसा आदर है, उसका नमूना देखिये——

समयसार प्रवचन, भाग तीसरा, पृ० १३ मे आप कहते है

"आज कल जगत मे त्याग के नाम पर अधाधुधी चल रही है। कुजडे काछी जैसो ने भटे-भाजी की तरह व्रतो का मूल्य कर दिया है।"

आप कितने सुन्दर गुरु-भक्त है कितने अच्छे गुणानुरागी हैं, मुनियो का कितना आदर आपके हृदय मे है, यह बात आपने अपने शब्दो मे जाहिर कर दी है। क्या आप जब ढूढिया साधु थे तब आपने भी कुजडे काछी जैसा ही व्रतो का मूल्य किया था। व्रती सयमी मुनियो, क्षुल्लको आदि को काछी कुजडे की उपमा देने मे आपको सकोच नही हुआ! जिनको समाज अपना पूज्य गुरु मानकर पूजा करती है उनको आप ऐसी हीन उपमा देकर तिरस्कार कर रहे है। यह तो वैसी बात हुई जैसे लक्ष्मी-वाहन आदि सूरज की रोशनी की निन्दा करे। आप अपने आत्मा को इन्द्रियो की गुलामी से और शरीर के मोह से

छुडा नही सकते, इसलिये आप व्रत सयम धारण करना जरूरी नही समझते। इसी कारण आप व्रतो की और व्रतधारी पूज्य त्यागियो की निन्दा करके अपना दिल खुश करते है, साथ ही लोगों को भ्रम मे डालते है ।

कानजी महाराज समयसार प्रवचन, भाग तीसरा पृ० १५६, पक्ति ४ मे लिखते है—

"हिसा, झूठ, चोरी आदि पाप के परिणाम और अहिसा, सत्य, दया, दान आदि पुण्य के परिणाम है। इन दोनो अशुभ और शुभ परिणामो मे फसे रहकर तुझे अब कितना क्या लाभ निकालना है ।"

आत्मा को लाभ, पाप छोडने तथा व्रत धारण करने से ही होता है। भगवान ऋषभनाथ आदि तीर्थकरो ने तथा कुन्दकुन्द आचार्य आदि ऋषियो ने आत्म-कल्याण के लिये ही महाव्रत धारण किये थे। उसी चारित्र के बल पर क्रम से मुक्ति मिलती है। श्री कानजी ने भी बाल ब्रह्मचर्यव्रत इसी लिये ग्रहण किया, ढूढिया साधुओ के महाव्रत भी आपने इसी लाभ के लिये पाले थे, अब आप अहिसा सत्य दया आदि का लाभ पूछ रहे है ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य को अपना गुरु मानकर भी आप उनके वचनो पर विश्वास नही करते। वे मोक्षपाहुड मे लिखते है। 'हिसारहिये धम्मे' यानी धर्म अहिसा रूप है। बोध पाहुडमे श्री कुन्दकुन्द लिखते है। 'धम्मो दयाविसुद्धो' यानी—धर्म दया-मय होता है। उस दया और अहिसा धर्म से आपको आत्मा का कुछ लाभ नही दीखता ।

समयसार प्रवचन, भाग तीसरा, पृ० १२, पक्ति १ मे लिखते है—

"श्रावक के बारह व्रत और मुनियो के पच महाव्रत भी

विकार है।"

आत्मा के विकार मिथ्यात्व, अविरत, विषय भोगो की लोलुपता है, उन आत्म-विकारो को दूर करने के लिए अर्हन्त भगवान ने गृहस्थ श्रावको को १२ व्रत और मुनियो को महाव्रत पालन करने का विधान किया है। श्रद्धालु धर्मात्मा इनका आचरण करते है और विषय-लोलुपी जीव इन व्रतो से दूर रहे आते है।

कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्र पाहुड मे '**दुविह सजमचरणं, सायारं तह अणायार २१**" आदि गाथाओ मे अणुव्रत महाव्रत पालने की प्रेरणा की है। कानजी स्वामी अपने गुरू कुन्दकुन्द के विरुद्ध अणुव्रत महाव्रत को विकार बतला कर उस पर पानी फेर रहे है क्योकि वे खुद न तो अणुव्रत पालते है, न महाव्रत। अपने शिष्यो को भी अपने समान अविरती बनाये रखने के लिए आपने अणुव्रतो-महाव्रतो को विकार बतला दिया।

लेकिन कानजी भाई के जो शिष्य अन्ध-श्रद्धालु नही है, विवेकी है उन्होने कुन्दकुन्द आचार्य की आज्ञा मानकर व्रत धारण किये हे जैसे पानीपत के जिनेन्द्र कुमार जी अब ११ वी प्रतिमाधारी, उत्तम श्रावक क्षु० जितेन्द्रसागर बन गये है, राजकोट के मूलशकर तथा चुन्नीलाल जी देसाई और लाभानन्द जी (लाभ-विजय) ने सातवी प्रतिमा का आचरण किया है। परन्तु विवेकहीन भोले-भाले अन्ध-श्रद्धालु लोग या विषय-लोलुपी अथवा आशावान लोभी चापलूस '**जी महाराज**' कहकर हा मे हा मिलाते है और बिना व्रत पालन किये मोक्ष-मार्ग पर दौड लगा कर मुक्त होने के स्वप्न देख रहे है।

कानजी भाई की सभ्यता तारीफ करने लायक है, आप समयसार प्रवचन, भाग तीसरा, पृ० ११ पक्ति ७ मे लिखते है।

छुडा नही सकते, इसलिये आप व्रत सयम धारण करना जरूरी नही ममभते। इसी कारण आप व्रतो की ओर व्रतधारी पूज्य त्यागियो की निन्दा करके अपना दिल खुश करते है, साथ ही लोगो को भ्रम मे डालते है ।

कानजी महाराज समयसार प्रवचन, भाग तीसरा पृ० १५६, पक्ति ४ मे लिखते है--

"हिसा, भूठ, चोरी आदि पाप के परिणाम और अहिंसा, सत्य, दया, दान आदि पुण्य के परिणाम है। इन दोनो अशुभ और शुभ परिणामो मे फसे रहकर तुझे अव कितना क्या लाभ निकालना है।"

आत्मा को लाभ, पाप छोडने तथा व्रत धारण करने से ही होता है। भगवान ऋषभनाथ आदि तीर्थकरो ने तथा कुन्दकुन्द आचार्य आदि ऋपियो ने आत्म-कल्याण के लिये ही महाव्रत धारण किये थे। उसी चारित्र के वल पर क्रम से मुक्ति मिलती है। श्री कानजी ने भी वाल ब्रह्मचर्यव्रत इसी लिये ग्रहण किया, ढूढिया साधुओ के महाव्रत भी आपने इसी लाभ के लिये पाले थे, अव आप अहिंसा मत्य दया आदि का लाभ पूछ रहे है ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य को अपना गुरु मानकर भी आप उनके वचनो पर विश्वास नही करते। वे मोक्षपाहुड मे लिखते है। 'हिंसारहिये धम्मे' यानी धर्म अहिसा रूप है। वोध पाहुडमे श्री कुन्दकुन्द लिखते है। 'धम्मो दयाविसुद्धो' यानी—धर्म दया-मय होता है। उस दया और अहिसा धर्म से आपको आत्मा का कुछ लाभ नही दीखता ।

समयसार प्रवचन, भाग तीसरा, पृ० १२, पक्ति १ मे लिखते है—

"श्रावक के बारह व्रत और मुनियो के पच महाव्रत भी

विकार है ।"

आत्मा के विकार मिथ्यात्व, अविरत, विषय भोगो की लोलुपता है, उन आत्म-विकारो को दूर करने के लिए अर्हन्त भगवान ने गृहस्थ श्रावको को १२ व्रत और मुनियो को महाव्रत पालन करने का विधान किया है। श्रद्धालु धर्मात्मा इनका आचरण करते है और विषय-लोलुपी जीव इन व्रतो से दूर रहे आते है।

कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्र पाहुड मे **'दुविह संजमचरणं, सायारं तह अणायार २१"** आदि गाथाओ मे अणुव्रत महाव्रत पालने की प्रेरणा की है। कानजी स्वामी अपने गुरू कुन्दकुन्द के विरुद्ध अणुव्रत महाव्रत को विकार बतला कर उस पर पानी फेर रहे है क्योकि वे खुद न तो अणुव्रत पालते है, न महाव्रत। अपने शिष्यो को भी अपने समान अविरती बनाये रखने के लिए आपने अणुव्रतो-महाव्रतो को विकार बतला दिया।

लेकिन कानजी भाई के जो शिष्य अन्ध-श्रद्धालु नही है, विवेकी है उन्होने कुन्दकुन्द आचार्य की आज्ञा मानकर व्रत धारण किये है जैसे पानीपत के जिनेन्द्र कुमार जी अव ११ वी प्रतिमाधारी, उत्तम श्रावक क्षु० जितेन्द्रसागर वन गये है, राजकोट के मूलशकर तथा चुन्नीलाल जी देसाई और लाभानन्द जी (लाभ-विजय) ने सातवी प्रतिमा का आचरण किया है। परन्तु विवेकहीन भोले-भाले अन्ध-श्रद्धालु लोग या विपय-लोलुपी अथवा आशावान लोभी चापलूस **'जी महाराज'** कहकर हा मे हा मिलाते हैं और विना व्रत पालन किये मोक्ष-मार्ग पर दौड लगा कर मुक्त होने के स्वप्न देख रहे है।

कानजी भाई की सभ्यता तारीफ करने लायक है, आप समयसार प्रवचन, भाग तीसरा, पृ० ११ पक्ति ७ मे लिखते है।

"कल के भिखारी ने आज भेप बदल दिया, स्त्री, कुटुम्ब को छोड दिया।' तो इससे क्या वह त्यागी हो गया ? सबने मिलकर त्यागी मान लिया, तो क्या बाह्य सयोग-वियोग से त्याग है ? अन्तरग मे कुछ परिवर्तन हुआ है या नही वह तो देख ! बाहर से दिखाई देता है कि अहा कैसा त्यागी है ! स्त्री नही, बच्चे नही, जगल मे रहता है—ऐसे बाह्य त्याग को देख कर बडा मानते है, लेकिन त्याग का क्या स्वरूप है उसे नही समझते"

जैन धर्म मे तो भिखारी को मुनिदीक्षा दी नही जाती, न अभी तक किसी भिखारी ने भेप बदल कर मुनिदीक्षा ली है। लेकिन फिर भी कान जी भाई ने जनता को त्याग सयम के आदर्श दिगम्बर मुनिराजो से घृणा पैदा कराने के लिए कैसे घृणित शब्दो का इस्तेमाल किया है, यह उसका छोटा सा नमूना है। कानजी भाई भी पहले घरबार छोडकर ढूढिया साधु बने थे, तब क्या ऐसी बात नही थी। आपको कौन से दिव्य ज्ञान से मालूम हो गया कि गृहस्थ भेष बदलने वाले गृहत्यागी व्रती मुनियो का अन्तरग अपने बहिरग के अनुसार नही है। दिगम्बर मुनियो के अखण्ड ब्रह्मचर्य को तथा त्याग तपस्या को प्रत्यक्ष सारा ससार साफ देखता है, यह ब्रह्मचर्य और तप बिना अन्तरग शुद्ध हुए कहाँ हो सकता है ? मनुष्य अपने मन की कमजोरियो को और मैल को दूसरे निर्मल मनुष्यो मे भी देखने की कोशिश करता है, यह उसकी दूषित दोषग्राहिणी बुद्धि का फल है। मालूम ऐसा होता है कि कानजी भाई ने साधु भेष बदलकर अविरती भेप बनाया है इसलिए अपनी उस कमजोरी को छिपाने के लिए ऐसे हल्के दर्जे के प्रचार पर उतर पडे है।

मुनियो को ही नही आप तीर्थकर अर्हन्त भगवान को, और

उनको दिव्य-ध्वनि को भी आत्म-शुद्धि मे सहायक नही मानते, इसके लिये आप समयसार प्रवचन पहला भाग के १२८ वे पृष्ठ पर कहते है—

"साक्षात् तीर्थंकर देव पृथक है, और तू पृथक् है, उनकी वाणी अलग है। इसलिए वह तुझे कदापि सहायक नही हो सकती। ऐसा माने बिना स्वतन्त्र तत्त्व समझ मे नही आयेगा।"

सहायक कारण हमेशा उपादान से पृथक ही होता है। उसी तरह अर्हन्त भगवान और उनकी वाणी दर्शन करने वाले तथा वाणी सुनने वाले भव्य जीवो से पृथक होकर भी उन असख्य प्राणियो का महा उपकार करती है। मोक्ष का मार्ग प्रकट करती है। तीर्थंकर ससार मे महान **तरणतारण** होते है, धर्म का प्रचार उनने ही किया है, कानजी भाई उन तीर्थंकरो को तथा उनकी वाणी को आत्म-उन्नति मे सहायक न मानकर कृतज्ञता का उपहास कर रहे है और भोले लोगो को सच्चे देव की श्रद्धा से भ्रष्ट करने की कोशिश कर रहे है।

श्री चुन्नीलाल देसाई लिखित "**सोनगढ का कलक**" पुस्तक के लेखानुसार सोनगढ मे यह वात फैली हुई है कि पूर्वभव मे कानजी भाई की आत्मा एक राजपुत्र के रूप मे विदेह क्षेत्र मे थी। वह राजपुत्र अपनी पत्नी के साथ उस वक्त भी सीमन्धर स्वामी के समवशरण मे मौजूद था जवकि श्री कुन्दकुन्द आचार्य विदेह मे सीमन्धर स्वामी के समवशरण मे गये थे।" सीमन्धर स्वामी का दर्शन करके श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने तो मुनिचर्या के रूप मे तथा समयसार आदि ग्रन्थ रचना के रूप मे स्वपर महा-कल्याण उसी समय कर लिया परन्तु आपने और आपकी पत्नी ने भगवान का साक्षात् दर्शन करके तथा उनकी वाणी सुनकर भी अपना कुछ आत्म-कल्याण नही किया इसी कारण

आप और आपकी पत्नी सौराष्ट्र मे पूर्व भव की तरह राजपुत्र भी न हुए। आपने साधुपद लिया वह भी छोड दिया और अब तक अविरती ही बने रहे। शायद आपने अपनी आप बीती कथा ऊपर लिखे शब्दो मे लिख डाली है, ऐसा मालूम होता है।

अगर तीर्थकर जगत कल्याण मे सहायक न होते तो कुन्द-कुन्दाचार्य किस तरह अपना कल्याण और दुनिया का कल्याण कर पाते ? आप अपने शुद्ध मन से कहिये कि क्या आपका कल्याण कुन्दकुन्द आचार्य के समयसार ग्रन्थ के निमित्त से नही हुआ ?

मालूम होता है आपको सीमन्धर स्वामी के समवशरण मे भी सम्यग्दर्शन नही हुआ, वरना आप न तो इस भरतक्षेत्र मे जन्म लेते, जहाँ कि इस समय मुक्त होना बन्द है। और न आपके दिल मे तीर्थकर भगवान की इतनी अश्रद्धा होती तथा इस समय भी यदि आप सम्यग्दृष्टि होते तो जगत-उद्धारक तीर्थकर भगवान के लिये ऐसी उल्टी भक्ति की बात न लिखते।

महाव्रती चारित्र को व्यर्थ बताने के लिये आप समयसार प्रवचन के १६६ वे पेज पर लिखते है।

"पच महाव्रत का अनतबार पालन किया और आहारादि के समय कठिन अभिग्रह (नियम) भी ग्रहण किये जैसे मोती नाम की बाई हो, मोती वाली छाप की साडी पहने हो और वह आहार की प्रार्थना करे तो ही आहार ग्रहण करू ऐसा कठिन अभिग्रह (नियम) भी अनन्तवार किया, सयम पालन किया, इन्द्रिय दमन किया, त्याग वैराग्य भी बहुत लिया, किन्तु अविकारी आत्मा की प्रतीति नही हुई। आत्मा को भूल कर मौन रहा और छह मास तक के उपवास भी किये, ऐसे साधन

अनतवार करने पर भी आत्म-स्वभाव प्रकट नही हुआ।"

कानजी भाईने अपने अविरती जीवन की महिमा प्रकारान्तर से वतलाकर मुनिचर्या को निरर्थक वतलाने के लिये ही शायद ये शव्द लिखे है। आप यह वात साफ वतलावे कि क्या विना मुनिव्रत धारण किये कोई मुक्त हुआ है या कभी मुक्त हो सकता है ? जिन मुनियो को उस भव मे शुक्ल-ध्यान मे न होने से मुक्ति नही मिल पाती वे मनुष्य, स्वर्ग, ग्रैवेयक आदि मे उत्पन्न होते है। ग्रैवेयक मे भव्य-अभव्य सभी जाते है। **"भावलिगी मुनि ग्रैवेयक मे नहीं जाते,"** यह वात कौन से ग्रन्थ मे लिखी है ? सम्यक्त्व होने से पहले नरक-आयु-वन्ध हो जाने पर तीर्थंकर प्रकृति वाला जीव भी नरक जा सकता है। इससे क्या मुनिव्रत या तीर्थंकर प्रकृति फिजूल हो गई ?

मुक्ति पाने के लिए मुनिव्रत धारण करने का मार्ग अटल है, उस मार्ग पर चलना हर एक मोक्ष-अभिलाषी का कर्तव्य है। आपकी तरह अविरती जीव तो त्रिकाल मे भी मुक्त नही होते, ससारी ही वने रहते है। आत्म-स्वभाव यानी सम्यग्दर्शन सम्यग्-ज्ञान और भावलिगी सम्यक्चारित्र प्रकट होने वाले मुनि भी शुक्लध्यान हुए विना उस भव से मुक्त नही हो पाते। इससे क्या सयम धारण करना फिजूल हो गया ? कानजी स्वामी करणानुयोग चरणानुयोग के ग्रन्थ देखकर कभी झूठा भ्रम न फैलाये। दूसरे-मुनियो के अन्तरग को आप कैसे जान सकते है ? जवकि आपको अवधि, मनपर्यय, केवल ज्ञान नही है। अपना अन्तरग देखकर आप वाते करे। आपके हृदय मे सम्यग्दर्शन का मूल गुरुभक्ति या गुरु की श्रद्धा नही है तभी आप ऐसी अश्रद्धा की अनुचित वात लिखते है।

यदि कोई अभव्य जीव भी सव आरम्भ परिग्रह घरवार को

मोह-ममता छोड, ससार, शरीर, भोगो से विरक्त होकर मुनि वन जाता है, तपस्या करता है, लोगो को त्याग वैराग्य का आप से भी ज्यादा बढकर उपदेश देता है और अभव्य होने के कारण स्वय मुक्त न होकर ग्रैवेयक मे जाता है, तो वह अपना तथा ससार का वुरा क्या करता है, कुछ न कुछ लाभ ही उठाता है। यदि वह मुनि वनकर सयमी न वनता, आपके समान अविरती ही वना रहता तो इतना ऊँचा न पहुचता, जरा इसे भी तो सोचिये।

यदि किसी अभव्य या दूरातिदूर भव्य अथवा निकटभव्य ने अपनी आत्मा शुद्ध करने के ख़याल मे अनन्त वार भी महाव्रत पालन किया, तो इससे उसकी हानि क्या हुई ? आत्मशुद्धि के लिए सयमी न वनने वाले मिथ्यादृष्टि असयमी से तो वह फिर भी लाख दर्जे अच्छा है। परीक्षा मे फेल होकर वार-वार परीक्षा देने के लिए तैयारी करने वाला सदा आदर-सन्मान का पात्र होता है। ईर्ष्यालु, प्रमादी वेसमझ लोग ही उसकी हसी उडाते है, सम्यग्ज्ञानी समझदार तो उसकी सराहना करते है। असफल मनुष्य यदि साहस और कोशिश नही छोडता तो प्रशसा का ही पात्र होता है। तपस्या और त्याग की निन्दा करते हुए आप ३०८ वे पृष्ठ पर लिखते है—

"वाह्यतप, परीषह इत्यादि क्रियाओ से मानता है कि मैंने सहन किया है इसलिये मेरे धर्म होगा, किन्तु उसकी दृष्टि वाह्य मे है, इसलिये धर्म नही हो सकता।"

वाह्य-तप अन्तरग-तपो को तथा त्याग, वैराग्य को दृढ़ स्थिर करने के लिए किये जाते है। श्री आदिनाथ भगवान ने इसीलिये एक हजार वर्ष तक तपस्या की। कोई भी मुक्तिगामी जीव परिषह सहे विना, वहिरग तप किये बिना अब तक मुक्त

नही हुआ। क्या बाह्य तप करने वाले भगवान ऋषभनाथ आदि अनन्त तपस्वी मुनियो की दृष्टि बाह्य पर ही रही थी ? किसी के अन्तरग को बात जानने के लिए कानजी भाई के पास कौन सा दिव्य ज्ञान या पैमाना है ? खुद तप नही करते इसलिए वे खुद तपस्या का महत्व नही जानते और दूसरो को भी उधर न जाने देने का असत् प्रयत्न करते है। यह बात तो ऐसी है। जैसे एक नकटा दूसरे आदमियो को नकटा बनाने के लिये कहता फिरता है, कि नाक की ओट मे भगवान नजर नही आता, नाक कट जाने पर ही भगवान का साफ साक्षात् दर्शन होता है, मुझे भगवान साफ दिखाई दे रहे है, अगर तुम लोग दर्शन करना चाहते हो तो मेरी तरह अपनी नाक कटवा दो।

## धर्म की अटपटी परिभापा

कानजी स्वामी समयसार प्रवचन तीसरे भाग के १४ वें पेज पर लिखते है–

"शुभ भावो से न तो धर्म होता है न मोक्ष मार्ग ही खुलता है।"

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने वोध पाहुड की २५ वी गाथा मे **दया भाव** को **धर्म** वतलाया है (धम्मो दयाविसुद्धो) मोक्ष-पाहुड की ९० वी गाथा मे **अहिसा** को धर्म वतलाया है (हिसा रहिये धम्मे)। अहिसा धर्म की शाखा ही सत्य, अचौर्य आदि चार व्रत है। इसी तरह ओर आचार्यो ने भो अहिसा को परम धर्म कहा है। इस अणुव्रत महाव्रत रूप अहिसा को कानजी भाई **धर्म** नही मानते। यानी-आप धर्म को परिभापा मे कुन्द-कुन्द आचार्य को भी गलत ठहराने की कोशिश कर रहे है।

अहिसा धर्म आदि शुभ भाव ही आत्मा की शुद्धि गुणस्थान

क अनुसार वढाते हुए पाचवे, छटे गुणस्थान मे पहुचा देते है। सातवे गुणस्थान के शुभ भाव का नाम धर्म-ध्यान है। उसी धर्म-ध्यान से शुक्लध्यान होता है, शुक्लध्यान से मोक्ष होती है। इस तरह शुभभाव परम्परा से मोक्ष के कारण है। परन्तु कानजी भाई पॉचवे, छटे, सातवे गुणस्थान के शुभ भावो को मोक्ष-मार्ग भी नही मानते, जवकि मोक्ष-मार्ग चौथे गुणस्थान से ही खुल जाता है।

कानजी स्वामी वतलावे कि आप मोक्ष-मार्ग पर लगे हुए है या ससार मार्ग पर है ? आपके शुभ भाव है या नही ? क्योकि शुद्ध भाव तो इस समय किसी के होते नही। तव आप अपने लिये शुभ भावो से धर्म कैसे मानते है ? मोक्षमार्ग अपने लिये खुला हुआ कैसे समझते है, दूसरो के लिये शुभ भावो से **धर्म** होने का निपेध क्यो करते है ? इस तरह मोक्ष-मार्ग सिर्फ आपके लिए है ?

## जड़-क्रिया

कानजी भाई अहिसा सत्य, उपवास आदि व्रत, तप, नियम आदि चारित्र को **जडक्रिया** (यानी जड शरीर की क्रिया) कहते है, उनको आत्मा का कल्याण करने वाली धर्मक्रिया नही कहते। आप समयसार प्रवचन तीसरे भाग के १६४ वे पेज पर कहते है—

"आजकल जीव जड की क्रिया मे ही धर्म मान बैठे है। धर्म क्या है, इसकी उन्हे कोई खबर नही है, वे तो जिस तरफ का उपदेश सुनते है, उसी ओर हॉजी हॉ कहने लगते है। जैसे ध्वज पुच्छ जिधर की हवा होती है उधर ही हिलता है, इसी प्रकार स्वय कुछ निर्णय न करके जहॉ का उपदेश सुनता है वही कहने लगता है कि—"सत्य वचन महाराज।"

अहिंसा आदिक व्रत और उपवास आदि तपो को अपने विषय कषाय तथा पाप-विकार दूर करने के लिए किया जाता है, इनको आत्मा बुद्धिपूर्वक करता है, फिर कानजी भाई उनको जडक्रिया किस आधार से कह कर भ्रम फैलाते है। इसी भ्रम का यह बुरा नतीजा है कि—

कानजी स्वामी का परम भक्त, समयसार का प्रवचन करने वाला एक जाना पहचाना नौजवान अपनी सुन्दर पत्नी के रहते हुए दो अन्य स्त्रियो को भी बिना विवाह किये अपनी पत्नी बनाये हुए है। इस व्यभिचार को वह सिर्फ जडक्रिया समझता है आत्मा से उसका सम्बन्ध नही मानता।

एक दूसरा कानजी-भक्त मुमुक्षु भाई शास्त्र-सभा मे शुद्ध आत्मा की चर्चा करता है और वेश्यागमन भी करता है। लेकिन वेश्यासेवन को जडक्रिया मानकर आत्मा से उसका कुछ सम्बन्ध नही समझता।

एक कानजी भक्त युवक प्रतिदिन शराब पीता है। लेकिन उसे जडक्रिया समझकर उससे आत्मा की कुछ हानि नही समझता।

अभी ग्वालियर से आये हुए कानजी स्वामी के एक श्रद्धालु परम भक्त ने चर्चा के दौरान मे कहा कि शराब तो जड शरीर पीता है, आत्मा से उसका कुछ सम्बन्ध नही है।

दुराचार को जडक्रिया के नाम पर करने वाले कानजी भक्त स्त्री-पुरुष के दो सच्चे उदाहरण और भी है।

इस तरह कानजी भाई ने दुराचार से बचाने वाले व्रतो को जडक्रिया बताकर जो भ्रम फैलाया है उस भ्रम का शिकार सब से पहले उनके शिष्य हो रहे है। व्यवहार चारित्र छुडा कर कानजी भाई ने अपने शिष्यो के लिए मोक्ष-मार्ग सरल कर दिया

है, उसी तरह ससार मार्ग भी निर्बाध कर दिया है।

बुद्धिमान स्त्री-पुरुष अपने आचार्यो के वाक्यो पर श्रद्धा रख कर जब अभक्ष्य-भक्षण तथा हिसा, व्यभिचार आदि को आत्मा का दुराचार समझते है और उसके त्याग को आत्मा का कल्याण-कारी धर्म समझकर उस दुराचार से बचे रहते है, तब अन्ध-श्रद्धालु भोले या विषय-लोलुपी लोग कानजी भाई के कहने को सच मानकर इसे जडक्रिया समझकर दुराचार से आत्मा की कोई हानि नही मानते। इससे बडा अनर्थ और क्या हो सकता है।

**"आप डूबन्ता पडिया ले डूबा यजमान ।"**

इसी से मिलती-जुलती बात कानजी भाई समयसार प्रवचन दूसरे भाग के ४६१ वे पेज पर लिखते है—

"शरीर, मन, वाणी और पुण्य पाप के भाव तेरा कुछ भी नही कर सकते। तू इससे पर है, वे तुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, तुझ मे पर पदार्थ नही है। इस प्रकार आत्यन्तिक रूप से निषेध किया है।"

सभी जैन शास्त्र अर्हन्त वाणी के अनुसार कहते है कि ससारी आत्मा अपने मन वचन काय के सहारे हिसादिक पाप करके नरक निगोद के दुख भोगता है और अहिसादिक व्रत, दया, द न, पूजा आदि शुभकार्यो से धर्म करके सुख पाता है। तथा क्रम से मोक्ष पा लेता है। सारा ससार ऐसा ही मानता है लेकिन कानजी भाई अपनी नई निराली तान सुनाते है, अगर मन वचन काय से पाप पुण्य नही होता तो आप प्रतिदिन लोगो को प्रवचन सुनाकर झूठे भ्रम मे क्यो डालते है? ससार मे आत्मा जन्म मरण किस वजह से करता है?

कौन सा ऐसा ससारी आत्मा है जो मन, वचन, शरीर से अलग रहकर पाप पुण्य कर लेता है आपही अपने जड शरीर

से अलग होकर पाप पुण्य या शुद्ध भाव करके दिखाओ। कोई कानजी-भक्त मुमुक्षु भाई मैदान मे आकर अपने गुरु की बात सच्ची साबित कर दिखावे।

ससारी आत्मा से एक मिनट भी (एक मिनट मे असख्यात समय होते है।) शरीर का साथ छूटता नही, अगर शरीर की आखे, कान, जीभ, बिगड जाती है, हाथ पैर कट जाते है तो आत्मा भी अन्धा, बहरा, गू गा, लूला, लगडा हो जाता है इच्छा रहते भी न देख सकता है, न सुन सकता है, न बोल सकता है। अगर द्रव्यमन या दिमाग बिगड जाय तो आत्मा पागल हो जाती है। फिर न सोच-विचार सकती है, न ध्यान कर सकती है।

एक बार कानजी भाई की आखे दुखी तो वे कई दिन तक प्रवचन न कर सके। तार देकर जब राजकोट मे निमित्त कारण डाक्टर को बुलाया गया तब उनकी उपादान आत्मा प्रवचन करने लायक बनी।

आपके इस गलत उपदेश का ही यह फल है कि आपके बहुत से कट्टर चेले होटलो में अशुद्ध भोजन खाते हुए भी आत्मा का कुछ नुकसान नही समझते।

एक तो आज का जमाना वैसे ही सदाचार से गिरकर दुराचार और विषय भोगो का कीडा बन गया है, उसके ऊपर आप के ऐसे उलटे आध्यात्मिक उपदेश मिले तब तो फिर बेडा पार हो गया। फिर तो पाप कुछ चीज ही नही रहता। क्योकि आत्मा अपने शरीर, वचन और मन से अलग है, जो कुछ करता है, शरीर करता है सो वह जड है। साख्यमत भी यही कहता है

शायद आपका आत्मा मनुष्य के शरीर में कैद नही है। सिद्धालय मे विराजमान है, यह उपदेश प्रवचन आत्मा से रहित

आपका जड शरीर किया करता है ? क्या विचित्र वे-सिर-पर की वात कह डाली । नास्तिक चार्वाक भी ऐसी ही वात कुछ हेर फेर से कहकर पुण्य पाप को कुछ नही मानता । आपकी इन वातो का समर्थन जैन शास्त्रो से नही होता, वहा मन वचन शरीर के द्वारा पुण्य पाप और क्रम से मुक्त होना वतलाया है।

कानजी भाई समयसार प्रवचन दूसरे भाग के ३६७ वे सफे पर लिखते है--

"सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के निमित्त भी पर है, उनका अवलम्बन भी शुभराग होने से स्वाधीन स्वभाव मे सहायक नही है यह नग्न सत्य है ।

जव सच्चे देव गुरु शास्त्र का निमित्त पर (दूसरा) होने के कारण आत्मशुद्धि मे कुछ मदद नही कर सकता, तो पूर्वभव मे विदेह क्षेत्र मे आप अपनी पत्नी के साथ समवशरण मे क्यो गये थे । क्यो आपने यहाँ समयसार का स्वाध्याय किया और क्यो उसका प्रवचन लोगो को सुनाकर भ्रम मे डालते है, और क्यो मदिर वनवाकर उनमे अर्हन्त भगवान की प्रतिमा विराजमान कराते है, पचकल्याणक प्रतिष्ठा भी क्यो कराई जाती है ? क्यो पूजा भक्ति आरती कराते है ? क्या यह सव कुछ लोगो को भ्रम मे डालने का सिर्फ ढोग है ? जैसे स्वामी दयानद जी ने वेदो का सहारा लेकर **नया पथ** चलाया, उसी तरह आा समयसार और मदिरो का सहारा लेकर एक ऐसा नया पथ चलाना चाहते है या चला रहे है, जो देव, गुरु, शास्त्र के निमित्त से आत्मा का कल्याण न मानने वाला होगा। मदिरो के नाम पर वह पथ जनता को धोखा तो देगा। लेकिन दरअसल मे देव गुरु शास्त्र का श्रद्धालु न होगा, क्योकि देव शास्त्र गुरु पर-द्रव्य है, पूजा स्तुति दिखावे के लिए करेगा, मन

से नही करेगा। इस तरह आप अमृत का नाम लेकर विप को जनता ने फैला रहे है, भोले लोग अमृत के धोखे मे विप पीकर धर्म कर्म से भ्रष्ट वनने की तैयारी मे है। क्या यही आपका असली **जैनधर्म** है ?

कुन्दकुन्द आचार्य मोक्षपाहुड (देवगुरुम्मि य भत्तो आदि ५२। आदि ग्रन्थो मे देव गुरु शास्त्र को भव्य जीवो का कल्याण उदय करने वाला मानते है, कहते है। देवो ववगयमोहो उदय-यरो भव्वजीवाण। वोवपाहुड २५) श्री वीरसेन आचार्य ने धवलसिद्धान्त (पुस्तक ६ पेज ४२७-४२८) मे अर्हन्त भगवान की प्रतिमा के दर्शन के निमित्त से मिथ्यात्व आदि निकाचित कर्मो का क्षय होना वतलाया है। (जिर्नाबवदसणेण निधत्तणि-काचिदस्स मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदसणादो) तव आप उस सिद्धात से उलटा पाठ पढाकर देव गुरु शास्त्र की श्रद्धा से पब्लिक को भ्रष्ट करना चाहते है। भोली वेसमझ जनता आपको किस स्वरूप मे याद करेगी।

जैन शास्त्रो मे समाधिमरण की वडी महिमा वताई गई है शिवकोटि आचार्य ने सिर्फ इसी विषय पर **भगवती आराधना** नामक एक वडा भारी ग्रन्थ वनाया है जिसका सभी धर्मात्मा वडी भक्ति श्रद्धा से स्वाध्याय करते है, उस समाधिमरण की वावत हमारे कानजी भाई समयसार प्रवचन दूसरे भाग के ३६६ वे सफे पर लिखते है—

"मरण के समय यदि सत पुरुपो का समागम-उनकी उप-स्थिति हो तो वे मृत्यु को सुधार देगे, वे मेरे भावो मे सहायक हो सकते हे, इस प्रकार जो मानता हे उसे अपनी स्वतन्त्रता की श्रद्धा नही है।"

इस तरह आप समाधिमरण की तरफ से जनता का ख्याल हटाना चाहते है। प्रतिदिन पूजा करते समय सम्यग्दृष्टि जीव

'समाहिमरणं च वोहिलाहो य' शब्दो द्वारा अपने अन्त समय मे समाधिमरण की भावना करता है। समाधिमरण कराने के लिए अन्य मुनियो को सहायता देने का विधान आचार्य शिवकोटि ने भगवती आराधना ग्रन्थ मे विस्तार से वर्णन किया है, कानजी स्वामी उस वात के खिलाफ लिख रहे है। कुत्ते को मरते समय जीवन्धर ने, वकरे को मरते समय चारुदत्त सेठ ने णमोकार मन्त्र सुनाकर उनका कल्याण किया, इन ऐतिहासिक घटनाओ पर कानजी भाई का ध्यान नही गया ?

मरते समय मनुष्य इतना निर्वल होता है कि उसके परिणामो को शान्त रखने के लिये अन्य लोगो द्वारा धर्म-उपदेश सुनाना, णमोकार मन्त्र, वैराग्यभावना, समाधिमरण पाठ आदि सुनाना वहुत जरूरी होता है जिससे उसके परिणामो मे शान्ति प्राप्त हो, धर्मभावना जाग्रत हो। उसको कानजी भाई स्वतत्रता की श्रद्धा नही मानते।

प्रात स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने ३६ दिन तक आहार त्यागकर धर्म आराधन के साथ वीर-मरण किया था। उसकी भी सराहना कानजी भाई ने तथा उनके शिष्यो ने नही की, यह उनकी गुरुभक्ति और समाधिमरण का आर्पविधान न मानने का नमूना है।

## क्रमबद्धपर्याय का एकान्त

जैनधर्म अनेकान्तवादी, स्याद्वादी है, एकान्त हठवाद का निराकरण करता है लेकिन कानजी भाई उसी जैन सिद्धात मे निश्चयनय का एकात, व्यवहार के असत्यार्थ का एकान्त, निमित्तकारण की निरर्थकता एकान्त, क्रमबद्ध पर्यायका

एकान्त, ऐसे कई एकान्त जबरदस्ती घुसेडकर जैन सिद्धान्तको बिगाडकर विकृत कर रहे है, उसको एकात मिथ्यात्व की कीचड मे लपेटकर जनता को मार्ग-भ्रष्ट कर रहे है। समयसार प्रवचन पहले भाग के १२८ वे सफे पर आप लिखते है—

"कोई किसी पर का कुछ कर नही सकता, किन्तु पर का जो होता है और जो होना है वह तो हुआ ही करेगा, तब फिर दान, सेवा, उपकार आदि न करने का तो प्रश्न ही नही रहता।"

अगर किसी का कोई दूसरा मनुष्य कुछ नही कर सकता तो कानजी भाई आप क्यो रोज इतनी मेहनत प्रवचन के जरिए कर रहे है ? क्योकि जिनका भला होना है, अपने आप हो जायगा, जो लोग धर्मभ्रष्ट, सिद्धान्तभ्रष्ट, देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा से भ्रष्ट, व्यवहार आचार (सदाचार) से भ्रष्ट होने है वे अपनी होनहार के अनुसार खुद हो जाएगे, किसी के उपदेश करने धरने से क्या फायदा ?

भूख मिटनी होगी तो खुद मिट जायगी, भोजन अपने आप पेट मे पहुच जायगा, भोजन के लिए भाग दौड करने की क्या जरूरत। पुत्र होना होगा, धन आना होगा तो अपने आप हो जायगा, विवाह करने, व्यापार धन्धा करने की क्या जरूरत है ? ज्ञान आना होगा तो अपने आप आ जायगा, पाठशाला जाकर पढने लिखने की क्या जरूरत है ? तीर्थयात्रा होनी होगी तो अपने आप हो जायगी, रेल, मोटर मे बैठने की क्या आवश्यकता ? रेलगाडी चलनी होगी तो अपने आप चल देगी, ड्राईवर की क्या जरूरत, कोयला पानी इकट्ठा करने और भाप पैदा करने की मेहनत क्यो की जावे ? और जब मोक्ष मिलनी होगी तब मोक्ष मिल जायगी व्रत तप सयम धारण करने की

क्या आवश्यकता ? वक्त आने पर सब कुछ अपने आप हो जायगा।

इन ऊपर की बातो मे आपने व्रत तप सयम धारण के लिये तो होनहार को मान कर अमल किया है और इसीलिए कह देते है कि जब काल-लब्धि आवेगी तब अपने आप मुनि बन जायेगे यानी-धोती का दृढ बन्धन अपने आप खुल कर नग्न भेष बन जायगा, बनियान अपने आप उतर जायगी। उसके सिवाय आप भोजन करने, टट्टी जाने, नहाने, धोने, सैर करने आदि मे होनहार के कायल नही है, उनको खुद जान-बूझ कर करते है, उन बातो को भाग्य-भरोसे नही छोडते।

यहाँ पर आप इतना और बतला देते तो अच्छा होता कि कौन-सा ऐसा कर्म है जो आत्मा को मोक्ष, केवल ज्ञान आदि बिना पुरुषार्थ किये दे जाता है।

विद्यार्थी अध्यापक की सहायता से पढता है, माता-पिता के निमित्त से बच्चा पैदा होता है, गुरु के निमित्त से सत्श्रद्धा सत्ज्ञान, सदाचार होता है, सत्सगति के कारण मनुष्य गुणी बनता है, कुसगति के निमित्त से मनुष्य दुराचारी बना करता है। इत्यादि हजारो बाते साफ नजर आ रही है फिर भी कान-जी महाराज फरमाते है, "**कोई दूसरा आदमी** दूसरे का कुछ भला बुरा नही कर सकता।" कितना गलत सिद्धान्त है।

जैन धर्म ने बतलाया है कि कार्य की सिद्धि भाग्य और पुरुषार्थ दोनो से होती है, यह गाडी एक पहिए से नही चलती। कभी पुरुषार्थ बलवान होता है तो दैव (कर्म) को दबाकर अपनी कोशिश के अनुसार काम कर डालता है। जैसे ज्ञान बढाना, आत्मशुद्धि करना, मोक्ष प्राप्त करना, व्यवहार के काम रात दिन करना, रोगो का इलाज करना आदि।

कभी कर्म बलवान होता है तो पुरुपार्थ कामयाब नही होता जैसे अभव्य या दूरातिदूर भव्य मोक्ष नही जा पाता, व्यवहार मे बहुत सी कोशिशे बेकार हो जाती है। इसीलिए जैन सिद्धान्त किसी एक ही पक्ष का एकान्त नही करता। लेकिन मनुष्य को सदा ठीक पुरुपार्थ करने, देव गुरु शास्त्र की श्रद्धा करने की, व्रत तप सयम चारित्र-पालन करने की प्रेरणा करता है। अगर हमारी बाहरी कोशिश के साथ अन्तरग मे मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम का निमित्त भी मिल जाता है तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र हो जाता है। अगर बाहरी कोशिश न करे तो भी काम नही बनता। इसीलिए कभी भी सोते-सोते सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र किसी व्यक्ति को न हुआ, न होता है और न होगा।

इस तरह कानजी भाई क्रमबद्धपर्याय का एकान्त प्रचार करके भ्रम फैला रहे है।

## हिंसा और अहिंसा

कानजी भाई ने हिसा और अहिसा के बारे मे एक अनोखा भ्रम फैलाया है जिसको पढकर हमारे पाठक हैरान हो जाएगे। हिसा अहिसा की परिभाषा करते हुए आप लिखते है कि––

"तू किसी जीव को मार नही सकता क्योकि जीव का मरण आयु कर्म के क्षय हो जाने पर होता है। जब तू किसी दूसरे जीव का आयु कर्म छीन नही सकता, तब तू किसी जीव की हिसा कैसे कर सकता है।"

इसी तरह––

"तू किसी जीव की रक्षा भी नही कर सकता क्योकि जीवो का जीवन आयुकर्म के उदय से होता है। जब तू आयु कर्म किसी को दे नही सकता तब तू किसी जीव की रक्षा भी कैसे कर

सकता है।'

जो बात कुन्दकुन्द आचार्य ने मुनियो का हिसा अहिसा-विषयक अभिमान दूर कराने के उद्देश्य से समयसार मे उपदेश रूप से कही है, श्री कानजी स्वामी ने उसका वह अभिप्राय दबाकर भ्रमजनक सिद्धान्त बना दिया है। खैर।

मुझे उनकी इस बात से यह खुशी हुई है कि आप जो निमित्त कारण को अकार्यकारी निरर्थक मानते है और इसीलिए आपका सिद्धान्त है कि "आत्मा को सुखी दुखी, रागी द्वेषी परिणाम, जीवन मरण, स्वर्ग नरक जाना आदि द्रव्यकर्म वेदनीय मोहनीय आदि के उदय के निमित्त से नही होता, यह सब कुछ आत्मा की अपनी योग्यता से ही होता है।"

सो आपने अपना यह अटल सिद्धान्त हिसा अहिसा की व्याख्या करने मे तोड दिया और साफ मान लिया कि "आत्मा आयु कर्म के उदय से जीता है, जन्म लेता है और आयु कर्म के खत्म होने के निमित्त से मरा करता है।"

इस तरह निमित्त उपादान के सहयोग से ही कार्य होने की सचाई को बरबस आप मान ही गये।

हिसा अहिसा की आपकी मान्यता गलत है। देखिये—

अपने आपको मारना, घायल करना या आत्महत्या करना तथा दूसरे जीव को मारना पीटना या जान से मार देना **द्रव्य हिसा** है। द्रव्य हिसा के लिए परिणाम करना **भाव-हिसा** है।

भावहिसा कभी अकेली भी होती है और कभी द्रव्यहिसा के साथ भी होती है।

**"संसारी जीवो का जन्म मरण आयु कर्म के अधीन है।"** ऐसा भी एकान्त नही है। कर्मभूमि के मनुष्य (तीर्थंकर के

सिवाय और पशु प्राणघातक दुर्घटनाओ से आयुकर्म बाकी रहते हुए भी अकाल मे भी मर जाते है। ऐसी मौत को सर्वज्ञ भगवान ने **अकाल मृत्यु** वतलाया है। सभी आचार्यो ने अपने अपने ग्रन्थो मे अकाल-मरण का विधान किया है। इसलिए पूरी आयु के क्षय होने से पहले भी किसी जीव को मारा जा सकता है। (निकाचित आयु वाला पूरी आयु भोग कर ही मरता है।)

बूचडखानो मे प्रतिदिन हजारो पशु मारे जाते है, उनमे से कोई भी नही बचता, लाखो मछलिया, चिडिया, सर्प, बिच्छू जगली जानवर शिकारियो के हाथ मारे जाते है, इनमे से अक्सर बेमौत (अकालमरण) मर जाते है। टिड्डीमार, मच्छरमार, चूहेमार, कुत्तेमार, गीदडमार, बन्दरमार, कीटाणु-मार आदि बीसो तरह के आन्दोलनो से प्रतिदिन बे-गिनती जीव मारे जा रहे है। रेशम के कारखानो मे लाखो करोडो कीडे रोज मारे जाते है। इन सब जीवो की हिसा मनुष्य कर रहे है और वे जीव आयु कर्म पूरा होने से पहले ही अकालमृत्यु के रूप मे मर जाते है।

इसी तरह रक्षा करने वाले दयालु मनुष्य गोशाला, पिजरा-पोल, अस्पताल आदि चालू करके हजारो जीवो को अकालमृत्यु से बचाते भी है।

इसलिये जीवो का मरना सर्वथा आयुकर्म के ही अधीन नही है, हिसक जीवो के भी अधीन है।

इस कारण हिसा अहिसा का मतलब जो कानजी स्वामी बतलाते है, वह गलत है, भ्रम फैलाने वाला है।

अगर कोई जीव किसी जीव को मार ही न सके तो फिर ससार मे कोई हिसक नही रहेगा, तब नरक निगोद मे हिसा

के कारण जाना वन्द हो जायगा। सभी देशो की सरकारो को मानवीय हत्या के कारण फॉसी की सजा देना वन्द करना पडेगा फिरतो किसी को भी कसाई, चाडाल, हत्यारा न माना जायगा। मासभक्षी मनुष्य, शेर चीते भेडिये भी हिसक न माने जायेगे।

इससे हर तरह से आपकी मान्यता गलत है और भ्रम फलाने वाली है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियम सार मे तथा चरित्रपाहुड मे त्रस स्थावर जीवो की रक्षा करने को अहिसा धर्म वतलाया है। अन्य आचार्यो ने भी अहिसा की परिभाषा ऐसी ही की है। दूसरे जीवो के तथा अपने द्रव्य प्राणो और भाव प्राणो के घात करने को हिसा सभी आचार्यो ने वतलाया है।

आज से २५०० वर्ष पहले धर्म के नाम पर भारत देश मे जीवित पशुओ को मार कर यज्ञ किये जाते थे। तव भगवान महावीर ने अहिसा धर्म का प्रचार करके भारतवर्ष से उस हिसाकृत्य को मिटाया था। 'अगर कोई जीव किसी दूसरे जीव को मार ही नही सकता।' तो अर्हत सर्वज्ञ महावीर भगवान को सब जगह विहार करके अहिसा धर्म का उपदेश देने की क्या जरूरत थी ?

इस तरह कानजी स्वामी जैन सिद्धान्त के खिलाफ ऐसा गलत प्रचार कर रहे है, जिससे भोले भाले कमसमझ स्त्री-पुरुष जैनधर्म के श्रद्धान से, ज्ञान से और आचरण से भ्रष्ट हो जावेगे।

इस लिये कानजी स्वामी को दूरदर्शी वनकर धर्म का सही प्रचार करना चाहिये।

आशा है कानजी स्वामी और उनके भक्त लोग मेरे इस निवेदन पर विचार करके स्व-पर-हितका रास्ता अपनावेगे।

# नियत-अनियतवाद

[ दिवङ्गत डा० श्री प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य लिखित तत्वार्थवृत्ति प्रस्तावना से उद्धृत ]

**नियताऽनियतत्ववाद**—जैन दृष्टि से द्रव्यगत शक्तिया नियत है पर उनके प्रतिक्षण के परिणमन अनिवार्य होकर भी अनियत है। एक द्रव्य की उस समय की योग्यता से जितने प्रकार के परिणमन हो सकते है उनमे से कोई भी परिणमन जिसके निमित्त और अनुकूल सामग्री मिल जायगी, हो जायगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य की शक्तियाँ तथा उनसे होनेवाले परिणमनो की जाति सुनिश्चित है। कभी भी पुद्गल के परिणमन जीव मे तथा जीव के परिणमन पुद्गल मे नही हो सकते। पर प्रतिसमय कैसा परिणमन होगा यह अनियत है। जिस समय जो शक्ति विकसित होगी तथा अनुकूल निमित्त मिल जायगा उसके बाद वैसा परिणमन हो जायगा। अत नियतत्व और अनियतत्व दोनो धर्म सापेक्ष हैं, अपेक्षा भेद से सम्भव है।

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का ही खेल यह जगत है। इनकी अपनी द्रव्य शक्तियाँ नियत है। ससार मे किसी की शक्ति नही जो द्रव्य शक्तियो मे से एक को भी कम कर सके या एक को बढा सके। इनका आविर्भाव और तिरोभाव पर्याय के कारण होता रहता है। जैसे मिट्टी पर्याय को प्राप्त पुद्गल से तेल नही निकल सकता, वह सोना नही बन सकती, यद्यपि तेल और सोना भी पुद्गल ही बनता है, क्योकि मिट्टी पर्याय वाले पुद्गलो की वह योग्यता तिरोभूत है, उसमे घट आदि बनने की, अकुर को उत्पन्न करने की, बर्तनो के शुद्ध करने की, प्राकृतिक

चिकित्सा मे उपयोग आने की आदि पचासो पर्याय योग्यताएँ विद्यमान है। जिसकी सामग्री मिलेगी अगले क्षण मे वही पर्याय उत्पन्न होगी। रेत भी पुद्गल है पर इस पर्याय मे घडा बनने की योग्यता तिरोभूत है, अप्रकट है, उसमे सीमेट के साथ मिलकर दीवाल पर पुष्ट लेप करने की योग्यता प्रकट है, वह काच बन सकती है या वही पर लिखी जाने वाली काली स्याही का शोषण कर सकती है। मिट्टी पर्याय मे ये योग्यताएँ अप्रकट है। तात्पर्य यह कि —

(१) प्रत्येक द्रव्य की मूलद्रव्यशक्तियाँ नियत है उनकी सख्या मे न्यूनाधिकता कोई नही कर सकता। पर्याय के अनुसार कुछ शक्तियाँ प्रकट रहती है और कुछ अप्रकट। इन्हे पर्याय योग्यता कहते है। (२) यह नियत है कि चेतन का अचेतनरूप से तथा अचेतन का चेतन रूप से परिणमन नही हो सकता। (३) यह भी नियत है कि एक चेतन या अचेतन द्रव्य का दूसरे सजातीय चेतन या अचेतन द्रव्य रूप से परिणमन नही हो सकता। (४) यह भी नियत है कि दो चेतन मिल कर एक सयुक्त सदृश पर्याय उत्पन्न नही कर सकते जैसे कि अचेतन परमाणु मिल कर अपनी सयुक्त सदृश घट पर्याय उत्पन्न कर लेते है। (५) यह भी नियत है कि द्रव्य मे उस समय जितनी पर्याय योग्यताएँ है उनमे जिसके अनुकूल निमित्त मिलेगे वही परिणमन आगे होगा, शेष योग्यताएँ केवल सद्भाव मे रहेगी। (६) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य का कोई न कोई परिणमन अगले क्षण मे अवश्य होगा। यह परिणमन द्रव्यगत मूल योग्यताओ और पर्यायगत प्रकट योग्यताओ की सीमा के भीतर ही होगा बाहर कदापि नही। (७) यह भी नियत है कि निमित्त उपादान द्रव्य की योग्यता का ही विकास करता है,

उसमे नूतन सर्वथा असद्भूत परिणमन उपस्थित नही कर सकता। (८) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणमन का उपादान होता है। उस समय की पर्याय योग्यता रूप उपादान शक्ति की सीमा के बाहिर का कोई परिणमन निमित्त नही ला सकता। परन्तु–

(१) यही एक बात अनियत है कि '**अमुक समय मे अमुक परिणमन ही होगा**।' मिट्टी की पिड पर्याय मे घडा सकोरा सुराही दीपक आदि अनेक पर्यायो के प्रकटाने की योग्यता है। कुम्हार की इच्छा और क्रिया आदि का निमित्त मिलने पर उनमे से जिसकी अनुकूलता होगी वह पर्याय अगले क्षण मे उत्पन्न हो जायगी। यह कहना कि 'उस समय मिट्टी की यही पर्याय होनी थी, उनका मेल भी सद्भाव रूप से होना था, पानी की यही पर्याय होनी थी' द्रव्य और पर्यायगत योग्यता के अज्ञान का फल है।

**नियतिवाद नही**–जो होना होगा वह होगा ही, हमारा कुछ भी पुरुपार्थ नही है, इस प्रकार के निष्क्रिय नियतिवाद के विचार जैनतत्त्व स्थिति के प्रतिकूल है। जो द्रव्यगत शक्तिया नियत है उनमे हमारा कोई पुरुषार्थ नही, हमारा पुरुपार्थ तो कोयले की हीरा पर्याय के विकास कराने मे है। यदि कोयले के लिए उसकी हीरापर्याय के विकास के लिए आवश्यक सामग्री न मिले तो या तो वह जलकर भस्म बनेगा या फिर खानि मे ही पडे-पडे समाप्त हो जायगा। इसका यह अर्थ नही है कि जिसमे उपादान शक्ति नही है उसका परिणमन भी निमित्त से हो सकता है या निमित्त मे यह शक्ति है जो निरुपादान को परिणमन करा सके।

**नियतिवाद-दृष्टिविष**---एक वार 'ईश्वरवाद' के विरुद्ध छात्रो ने एक प्रहसन खेला था। उसमे एक ईश्वरवादी राजा था, जिसे यह विश्वास था कि ईश्वर ने समस्त दुनिया के पदार्थो का कार्यक्रम निश्चित कर दिया है। प्रत्येक पदार्थ की अमुक समय मे यह दशा होगी इसके वाद यह, सब सुनिश्चित है। कोई अकार्य होता तो राजा सदा यह कहता था कि-'हम क्या कर सकते है? ईश्वर के नियतिचक्र मे हमारा हस्तक्षेप उचित नही "ईश्वर की मर्जी"। एक वार कुछ गुण्डो ने राजा के सामने ही रानी का अपहरण किया। जव रानी ने रक्षार्थ चिल्लाहट शुरू की और राजा को क्रोध आया तव गुन्डो के सरदार ने जोर से कहा-"ईश्वर की मर्जी"। राजा के हाथ ढीले पडते है और वे गुण्डे रानी को उसके सामने ही उठा ले जाते है। गुण्डे रानी को भी समझाते है कि 'ईश्वर की मर्जी यही थी' रानी भी 'विधिविधान मे अटल विश्वास रखती थी और उन्हे आत्म-समर्पण कर देती है। राज्यमे अव्यवस्था फैलती है और परचक्र का आक्रमण होता है और राजा की छाती मे दुश्मन की जो तलवार घुसती है वह भी 'ईश्वर की मर्जी' इस जहरीले विश्वासविष से वुझी हुई थी और जिसे राजा ने विधि विधान मान कर ही स्वीकार किया था। राजा और रानी गुण्डो ओर शत्रुओ के आक्रमण के समय "ईश्वर की मर्जी" "विधि का विधान" इन्ही ईश्वरास्त्रो का प्रयोग करते थे और ईश्वर से ही रक्षा की प्रार्थना करते थे। पर न मालूम उस समय ईश्वर क्या कर रहा था? ईश्वर भी क्या करता? गुण्डे और शत्रुओ का कार्यक्रम भी उसी ने वनाया था और वे भी 'ईश्वर की मर्जी' और 'विधिविधान' की दुहाई दे रहे थे।

ईश्वरवाद मे इतनी गु जाइश थी कि यदि ईश्वर चाहता

तो अपने विधान मे कुछ परिवर्तन कर देता। आज **श्री कानजी स्वामी की 'वस्तुविज्ञानसार' पुस्तक को** पलटते समय उस प्रहसन की याद आ गई और ज्ञात हुआ कि यह नियतिवाद का कालकूट 'ईश्वरवाद' से भी भयकर है। ईश्वरवाद मे इतना अवकाश है कि यदि ईश्वर की भक्ति की जाय या सत्कार्य किया जाय तो ईश्वर के विधान मे हेरफेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मो के अनुसार ही फल का विधान करता है। पर यह नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे 'अनन्त पुरुषार्थ' का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्म की शक्कर में लपेट कर दिया जा रहा है। ईश्वरवादी साप के जहर का एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवादी कालकूट का इस भीषण दृप्टि विप का कोई उपाय नही, क्योकि हर एक द्रव्य की हर समय की पर्याय नियत है।

मर्मान्ति वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकात विष को अनेकान्त अमृत के नाम से कोमलमति नई पीढी को पिला कर उन्हे अनन्त पुरुषार्थी कहकर सदा के लिए पुरुषार्थ से विमुख किया जा रहा है।

**पुण्य और पाप क्यो ?**—जब प्रत्येक जीव का प्रति समय का कार्यक्रम निश्चित है, अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नही, साथ ही स्वकर्तृत्व भी नही है, तव क्या पुण्य और क्या पाप ? किसी मुसलमान ने जैनप्रतिमा तोडी, तो जब मुसलमान को उस समय प्रतिमा को तोडना ही था, प्रतिमा को उस समय टूटना ही था, सव कुछ नियत था तो विचारे मुसलमान का क्या अपराध ? वह तो नियति-चक्र का दास था। एक याज्ञिक ब्राह्मण बकरे की बलि चढाता है तो क्यो उसे हिसक कहा

जाय–'देवी को ऐमी ही पर्याय होनी थी, बकरे के गले को कटना ही था, छुरे को उसकी गर्दन के भीतर घुसना ही था, ब्राह्मण के मुँह मे मास जाना ही था, वेद मे ऐमा ही लिखा जाना था।' इस तरह पूर्वनिश्चित योजनानुसार जब घटनाएँ घट रही है तो उस विचारे को क्यो हत्यारा कहा जाय ? हत्याकाण्ड रूपी घटना अनेक द्रव्यो के सुनिश्चित परिणमन का फल है। जिस प्रकार ब्राह्मण के छुरे का परिणमन बकरे के गले के भीतर घुसने का नियत था उसी प्रकार बकरे के गले का परिणमन भी अपने भीतर छुरा घुसवाने का निश्चित था। जब इन दोनो नियत घटनाओ का परिणाम बकरे का बलिदान है तो इसमे क्यो ब्राह्मण को हत्यारा कहा जाय ? किसी स्त्री का शील भ्रष्ट करने वाला व्यक्ति क्यो दुराचारी गुण्डा कहा जाय ? स्त्री का परिणमन ऐसा ही होना था और पुरुप का भी ऐसा ही, दोनो के नियत परिणमनो का नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था फिर उसे गुण्डा और दुराचारी क्यो कहा जाय ? इस तरह इस श्रोत्र विपरूप (जिसके सुनने से ही पुरुपार्थहीनता का नशा आता है) नियतिवाद मे जब अपने भावो का भी कर्तृत्व नही है अर्थात् ये भाव सुनिश्चित है तब पुण्य-पाप, हिसा-अहिसा, सदाचार-दुराचार, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन क्या ?

**गोडसे हत्यारा क्यो ?**–यदि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिसमयका परिणमन नियत है, भले ही वह हमे न मालूम हो, तो किसी कार्य को पुण्य और किसी कार्यको पाप क्यो कहा जाय ? नाथूराम गोडसे ने महात्माजी को गोली मारी, तो क्यो नाथूराम को हत्यारा कहा जाय ? नाथूराम का उस समय वैसा ही परिणमन होना था महात्माजी का भी वैसा ही होना था और गोलीका और पिस्तौल का भी वैसा ही परिणमन निश्चित था।

अर्थात् हत्या नाथूराम, महात्माजी, पिस्तौल और गोली आदि अनेक पदार्थो के नियत कार्यक्रम का परिणाम है। इस घटना से सम्बद्ध सभी पदार्थो के परिणमन नियत थे। और उस सम्मिलित नियति का परिणाम हत्या है। यदि यह कहा जाता है कि नाथूराम महात्माजी के प्राणवियोगरूप परिणमन मे निमित्त हुआ है, अत. अपराधी है तो महात्माजी को नाथूराम के गोली चलाने मे निमित्त होने पर क्यो न अपराधी ठहराया जाय? जिस प्रकार महात्माजी का यह परिणमन निश्चित था उसी प्रकार नाथराम का भी। दोनो नियतिचक्र के सामने समानरूप से दास थे। सो यदि नियतिदास नाथूराम हत्या का निमित्त होने से दोपी है, तो महात्माजी भी नाथूराम की गोली चलाने रूप पर्याय मे निमित्त होने से दोषी क्यो नही? इन्हे जाने दीजिए, हम तो यह कहते है कि—पिस्तौल से गोली निकलनी थी और गोली को गाधी जो की छाती में घुसना था इसलिए नाथूराम और महात्माजी की उपस्थिति हुई। नाथूराम तो गोली और पिस्तौल के उस अवश्यम्भावी परिणमन का एक निमित्त था जो नियतिचक्र के कारण वहा पहुँच गया। जिनकी नियति का परिणाम हत्या नाम की घटना है वे सब पदार्थ समानरूप से नियतिचक्र से प्रेरित होकर उस घटना मे अपने अपने नियत भवितव्य के कारण उपस्थित है। अब उनमे क्यो मात्र नाथूराम को पकडा जाता है? वल्कि हम सवको उस दिन ऐसी खबर सुननी थी और श्री आत्माचरण को जज बनना था इसलिए वह सब हुआ। अत हम सवको और आत्माचरण को ही पकडना चाहिए। अत इस नियतिवाद मे न कोई पुण्य है न पाप, न सदाचार न दुराचार। जव कर्तृत्व ही नही तब क्या सदाचार क्या दुराचार? नाथूराम गोडसे को नियतिवाद के आधार पर ही अपना वचाव करना चाहिए था,

और सीधा आत्माचरण के ऊपर टूटना चाहिए था कि चूकि तुम्हे हमारे मुकदमे का जज होना था इसलिये इतना बडा नियतिचक्र चला और हम सब उसमे फसे। यदि सब चेतनो को छुडाना है तो पिस्तौल के भवितव्य को दोष देना चाहिए, न पिस्तौल का उस समय वैसा परिणमन होना होता, न वह गोडसे के हाथ मे आती और न गाधीजी की छाती छिदती। सारा दोप पिस्तौल के नियत परिणमन का है। तात्पर्य यह कि इस नियतिवाद मे सब साफ है। व्यभिचार, चोरी-दगाबाजी और हत्या आदि सब कुछ उन उन पदार्थो के नियत परिणमन के परिणाम है, इसमे व्यक्तिविशेप का क्या दोप ? अत इस सत्-असत् लोपक, पुरुषार्थ-विघातक नियतिवाद विष से रक्षा करनी चाहिए।

**नियतिवाद मे एक ही प्रश्न एक ही उत्तर**—नियतिवाद मे एक उत्तर है—'ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही' इसमे न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। वस्तुव्यवस्था मे इस प्रकार के मृत विचारो का क्या उपयोग ? जगत् मे विज्ञानसम्मत कार्यकारणभाव है। जैसी उपादान योग्यता और जो निमित्त होगे तदनुसार चेतन-अचेतन का परिणमन होता है। पुरुषार्थ निमित्त और अनुकूल सामग्री के जुटाने मे है। एक अग्नि है, पुरुपार्थी यदि उसमे चन्दन का चूरा डाल देता है तो सुगन्धित धुआँ निकल कर कमरे को सुवासित कर देता है, यदि बाल आदि पडते है तो दुर्गन्धित धुआँ उत्पन्न हो जाता है। यह कहना अत्यन्त भ्रान्त है कि चूरा को उसमे पडना था, पुरुष को उसमे डालना था, अग्नि को उसे ग्रहण करना ही था इसमे यदि कोई "हेर-फेर करता है तो नियतिवादी का वही उत्तर कि "ऐसा ही होना था।" मानो जगत के परिणमनो को 'ऐसा ही होना था' इस नियति-पिशाचिनी ने

अपनी गोद मे सभी कुछ ले रखा हो।

**नियतिवाद मे स्वपुरुषार्थ भी नही**--नियतिवाद मे अनन्त पुरुषार्थ की बात तो जाने दीजिये स्वपुरुषार्थ भी नही है। विचार तो कीजिये जब हमारा प्रत्येक क्षणका कार्यक्रम सुनिश्चित है और अनन्तकाल का, उसमे हेरफेर का हमको भी अधिकार नही है तब हमारा पुरुषार्थ कहाँ ? और कहा हमारा सम्यग्दर्शन ? हम तो एक महानियति-चक्र के अश है और उसके परिचलन के अनुसार प्रतिक्षण चल रहे है। यदि हिसा करते है तो नियत है, व्यभिचार करते है तो नियत है, चोरी करते है तो नियत है, पापचिन्ता करते है तो नियत है। हमारा पुरुषार्थ कहा होगा ? कोई भी क्षण इस नियतिभूत की मौजूदगी से रहित नही है, जबकि हम साँस लेकर कुछ अपना भविष्य निर्माण कर सकें।

**भविष्य निर्माण कहाँ ?** इस नियतिवाद मे भविष्य निर्माण की सारी योजनाएँ हवा है। जिसे हम भविष्य कहते है वह भी नियतिचक्र मे सुनिश्चित है और होगा ही। जैन दृष्टि तो यह कहती है कि--तुममे उपादान योग्यता प्रति समय अच्छे और बुरे बनने की, सत् और असत् होने की है, जैसा पुरुषार्थ करोगे, जैसी सामग्री जुटाओगे अच्छे बुरे भविष्य का निर्माण स्वय कर सकोगे।' पर जब नियतिचक्र निर्माण करने की बात पर ही कुठाराघात करके उसे नियत या सुनिश्चित कहता है तब हम क्या पुरुषार्थ करे ? हमारा हमारे ही परिणमन पर अधिकार नही है क्योकि वह नियत है। पुरुषार्थ-भ्रष्टताका इससे व्यापक उपदेश इससे अधिक दूसरा नही हो सकता। इस नियतिचक्र मे सबका सब कुछ नियत है, उसमे अच्छा क्या ? बुरा क्या ? हिसा अहिसा क्या ?

**सबसे बड़ा अस्त्र सर्वज्ञत्व**—नियतिवादी या तथोक्त अध्या-

त्मवादियो का सवसे वडा तर्क है कि–'सर्वज्ञ है या नही ? यदि सर्वज्ञ है तो वह त्रिकालज्ञ होगा अर्थात् भविष्यज्ञ भी होगा। फलत वह प्रत्येक पदार्थ का अनन्तकाल तक प्रतिक्षण जो होना है उसे ठीक रूप मे जानता है। इस तरह प्रत्येक परमाणु की प्रतिसयय की पर्याय सुनिश्चित है उनका परस्पर जो निमित्त-नैमित्तिकजाल है वह भी उसके ज्ञानके वाहिर नही है। सर्वज्ञ मानने का दूसरा अर्थ है नियतिवादी होना। पर, आज जो सर्वज्ञ नही मानते उनके सामने हम नियतितन्त्र को कैसे सिद्ध कर सकते है ? जिस अध्यात्मवाद के मूल मे हम नियतिवाद को पनपाते हैं उस अध्यात्मदृष्टि से सर्वज्ञता व्यवहारनय की अपेक्षा से है। निश्चयनयसे तो आत्मज्ञता मे ही उसका पर्यवसान होता है, जैसाकि स्वय आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार (गा० १५८) मे लिखा है—

> **"जाणदि पस्सदि सव्व व्ववहारणएण केवलो भगव।**
> **केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण॥"**

अर्थात्—केवली भगवान् व्यवहारनय से सब पदार्थों को जानते देखते है। निश्चय से केवलज्ञानी अपनी आत्मा को ही जानता देखता है।

अध्यात्मशास्त्रगत निश्चयनय की भूतार्थता और परमार्थता तथा व्यवहारनयकी अभूतार्थता और अपरमार्थता पर विचार करने से तो अध्यात्मशास्त्र मे पूर्णज्ञानका पर्यवसान अन्तत आत्मज्ञान मे ही होता है। अत सर्वज्ञत्व की दलीलका अध्यात्म-चिन्तनमूलक पदार्थव्यवस्था मे उपयोग करना उचित नही है।

**समग्र और अप्रतिबद्ध कारण ही हेतु**–अकलक देव ने उस कारण को हेतु स्वीकार किया है जिसके द्वितीयक्षण मे नियम से **कार्य** उत्पन्न हो जाय। उसमे भी यह शर्त है कि जब उसकी

शक्तिमे कोई प्रतिवन्ध उपस्थित न हो तथा—सामग्री अन्तर्गत अन्य कारणो की विकलता न हो। जैसे अग्नि धूमकी उत्पत्ति मे अनुकूल कारण है पर यह तभी कारण हो सकती हे जव इसकी शक्ति किसी मन्त्र आदि प्रतिवन्धक ने न रोकी हो तथा धूमोत्पादक सामग्री-गीला ईधन आदि पूरे रूप से विद्यमान हो। यदि कारण का अमुक कार्यरूप मे परिणमन नियत हो तो प्रत्येक कारण को हेतु वनाया जा सकता था। पर कारण तव तक कार्य उत्पन्न नही कर'सकता जब तक उसकी सामग्री पूर्ण न हो और शक्ति अप्रतिवद्ध न हो। इसका स्पष्ट अर्थ है कि शक्ति की अप्रतिबद्धता और सामग्री की पर्णता जव तक नही होगी तव तक अमुक अनुकूल भी कारण अपना अमुक परिणमन नही कर सकता। अग्नि मे यदि गीला ईधन डाला जाय तो ही धूम उत्पन्न होगा अन्यथा वह धीरे २ राख वन जायगी। यह बिल्कुल निश्चित नही है कि उसे उस समय राख वनना ही है या धूम पैदा करना ही है। यह तो अनुकूल सामग्री जुटाने की वात है। जिस परिणमन की सामग्री जुटेगी वही परिणमन उसका होगा।

**रागादि का पुद्गलत्व**—अध्यात्म शास्त्र मे रागादि को पर-भाव और पौद्गलिक वताया है। इसका कारण भी यह वताया गया है कि चूँकि ये भाव पुद्गल निमित्त से होते है अत पुद्गलावलम्वन होने से पौद्गलिक है। सर्वार्थसिद्धि मे भाव मन को इसीलिए पौद्गलिक वताया है कि वह पुद्गल निमित्तक या पुद्गलावलम्वन है। रागादि या भावमन मे उपादान तो आत्मा ही है, आत्मा ही का परिणमन रागादि रूप से होता है। यहा स्पष्टत पुद्गल का या पर-द्रव्य का सवल निमित्तत्व स्वीकृत है। पर को निमित्त हुए विना रागादि को परभाव कैसे कहा जा सकता है? अत. अध्यात्म भी 'उभय कारणो से कार्य

होता है' इस सर्व-सम्मत कार्यकारण भाव का निषेध नही करता। **"सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्"** अर्थात् सामग्री से कार्य होता है, एक कारण से नही, यह अनुभवसिद्ध कार्यकारण व्यवस्था है। कार्य उभय-जन्य होने पर भी चूँकि अध्यात्म उपादान का सुधार करना चाहता है अत उपादान पर ही दृष्टि रखता है, और वह प्रतिसमय अपने मूल स्वरूप की याद दिलाता रहता है कि **तेरा वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध है, यह रागादि कुभाव पर-निमित्त से उत्पन्न होते है अत परनिमित्तो को छोड। इसी मे अनन्त पुरुषार्थ है, न कि नियतिवाद की निष्क्रियता मे।**

**उभय कारणो से कार्य**—कार्योत्पत्ति के लिए दोनो ही कारण चाहिए उपादान और निमित्त, जैसा कि अनेकान्तदर्शी स्वामी समन्तभद्र ने कहा है कि **'यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभि:'** अर्थात् कार्य बाह्य-अभ्यन्तर दोनो कारणो से होता है। वे वृहत्स्वयभू स्तोत्र के वासुपूज्य स्तवन मे और भी स्पष्ट लिखते हैं कि—

**"यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतो.।**
**अध्यात्मवृत्तस्य तदगभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यल न॥"**

अर्थात् अन्तरग मे विद्यमान मूलकारण अर्थात् उपादान योग्यता के गुण और दोष को प्रकट करने मे जो बाह्य वस्तु कारण होती है वह उस उपादान के लिये अगभूत अर्थात् सहकारी कारण है। केवल अभ्यन्तर कारण अपने गुणदोष की उत्पत्ति मे समर्थ नही है। भले ही अध्यात्मवृत्त पुरुष के लिए बाह्यनिमित्त गौण हो जॉय पर उनका अभाव नही हो सकता। वे अन्त मे उपसहार करते हुए और भी स्पष्ट लिखते है—

**"बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगत: स्वभाव:।**
**नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥"**

अर्थात् कार्योत्पत्ति के लिए बाह्य और आभ्यन्तर, निमित्त और उपादान दोनो कारणो की समग्रता पूर्णता ही द्रव्यगत निज स्वभाव है। इसके बिना मोक्ष नही हो सकता है।

इस उभयकारणो की स्पष्ट घोषणा के रहते हुए भी केवल नियतिवादैकान्त का पोषण अनेकान्त दर्शन और अनन्त पुरुषार्थ का रूप नहीं ले सकता।

यही अनाद्यनन्त वैज्ञानिक कारण-कार्यधारा ही द्रव्य है जिसमे पूर्वपर्याय अपनी सामग्रीके अनुसार सदृश,विसदृश, अल्प-सदृश आदि रूप से अनेक पर्यायो की उत्पादक होती है। मान लीजिए एक जलविन्दु है उसकी पर्याय वदल रही है, वह प्रति-क्षण जलविन्दु रूप से परिणमन कर रही है पर यदि गरमी का निमित्त मिलता है तो तुरन्त भाप बन जाती है। किसी मिट्टी मे यदि पड गई तो सम्भव है पृथिवी वन जाय। यदि साप के मुँह मे चली गई तो जहर वन जायगी। तात्पर्य यह कि एक धारा पूर्व उत्तर पर्यायो की वहती है उसमे जैसे-जैसे सयोग होते जायगे उसका उस जाति मे परिणमन हो जायगा। गगा की धारा हरिद्वार मे जो है वह कानपुर मे नही। वह और कान-पुर की गटर आदि का सयोग पाकर इलाहावाद मे वदली और इलाहावाद की गन्दगी आदि के कारण काशी की गगा जुदी ही हो जाती है। यहा यह कहना कि "गगा के जल के प्रत्येक परमाणु का प्रति समय का सुनिश्चित कार्यक्रम बना हुआ है उसका जिस समय जो परिणमन होना है वह होकर ही रहेगा" द्रव्य की विज्ञान-सम्मत कार्यकारण परम्परा के प्रतिकूल है।

**समयसार मे निमित्ताधीन उपादान परिणमन**–समयसार (गा० ८६।८८) मे जीव और कर्म का परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध वताते हुए लिखा है कि–

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ॥
पुग्गलकम्मकदाण ण दु कत्ता सव्वभावाण ।"

अर्थात्—जीव के भावो के निमित्त से पुद्गलो की कर्मरूप पर्याय होती है और पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव रागादि रूप से परिणमन करता है। इतना समझ लेना चाहिए कि जीव उपादान बन कर पुद्गल के गुण रूप से परिणमन नही कर सकता और न पुद्गल उपादान बनकर जीव के गुणरूप से परिणति कर सकता है। हा, परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के अनुसार दोनो का परिणमन होता है। इस कारण उपादान दृष्टि से आत्मा अपने भावोका कर्त्ता है पुद्गल के ज्ञानावरणादि रूप द्रव्य कर्मात्मक परिणमन का कर्त्ता नही है।

इस स्पष्ट कथन से कुन्दकुन्दाचार्य की कर्तृत्व-अकर्तृत्व की दृष्टि समझ मे आ जाती है। इसका विशद अर्थ यह है कि—प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन मे उपादान है, दूसरा उसका निमित्त हो सकता है, उपादान नही। परस्पर निमित्त से दोनो उपादानो का अपने-अपने भाव रूप से परिणमन होता है। इसमे निमित्त-नैमित्तिक भाव का निषेध कहा है? निश्चय दृष्टि से परनिरपेक्ष आत्मस्वरूप का विचार है। उसमे कर्तृत्व अपने उपयोग रूप मे ही पर्यवसित होता है। अत कुन्दकुन्द के मत मे अध्यात्म मे द्रव्यस्वरूप का वही निरूपण है जो आगे समन्तभद्रादि आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे किया है।

मूल मे भूल कहा—इसमे कहाँ मूल मे भूल है? जो उपादान है वह उपादान ही है, जो निमित्त है वह निमित्त ही है। कुम्हार

घट का कर्त्ता है यह कथन व्यवहार हो सकता है, कारण, कुम्हार वस्तुत अपनी हलन-चलन क्रिया तथा अपने घट बनाने के उपयोग का ही कर्त्ता है, उसके निमित्त से मिट्टी के परमाणुओ मे वह आकार उत्पन्न हो जाता है। मिट्टी का घडा बनना ही था और कुम्हार के हाथ को वैसा होना ही था और हमे उसकी व्याख्या ऐसी करनी ही थी, आपको ऐसा प्रश्न करना ही था और हमे यह उत्तर देना ही था, ये सब बाते न अनुभवसिद्ध कार्य कारणभाव के अनुकूल ही है और न तर्क-सिद्ध ही।

**परम स्वपुरुषार्थी कुन्दकुन्दका अध्यात्म**—आ० कुन्दकुन्द ने अपने अध्यात्म मे यह बताया है कि यद्यपि कार्य निमित्त और उपादान दोनो से होता है पर निमित्त को यह अहकार नही करना चाहिये कि "मैने ऐसा किया।" यदि उपादान की योग्यता न होती तो निमित्त कुछ नही कर सकता था। पर केवल उपादान की योग्यता भी निमित्त के बिना अविकसित रह जाती है। प्रति समय विकसित होने को सैकडो योग्यताऍ है। जिसका अनुकूल निमित्त जुट जाता है उसका विकास हो जाता है। यही पुरुषार्थ है। श्री **कुन्दकुन्द उस निमित्तपने के अहकार को निकलने के लिए पर-अकर्तृत्व की भावना पर जोर देते है। पर यह नियतिवाद का भूत स्वकर्तृत्व को भी समाप्त कर रहा है।** श्री कुन्दकुन्द यह तो कहते ही है कि जीव अपने गुण पर्यायो का कर्ता है। पर इस नियतिवाद मे जब सब सुनियत है तब रचमात्र भी स्वकर्तृत्व को अवकाश नही है। श्री कुन्दकुन्द जहॉ चरित्र दर्शन शील आदि पुरुषार्थो पर भार देकर यह कहते है कि इनके द्वारा अपनी आत्मा मे बद्ध प्राचीन कर्मो की निर्जरा करके शीघ्र मुक्त हो सकते है। वहा यह

नियतिवाद कहता है कि—"शीघ्रता की बात न करो, सब नियत है, होना होगा, हो जायगा।" श्री कुन्दकुन्द की दृष्टि तो यह है कि हम परकर्तृत्व का आरोप करके ही राग द्वेष मोह की सृष्टि करते है। यदि हम यह समझ ले कि हम यदि किसी के परिणमन मे निमित्त हुए भी है तो इतने मात्र से उसके स्वामी नही हो सकते, स्वामी तो उपादान ही होगा जिसका कि विकास हुआ है तो सारे झगडे ही समाप्त हो जॉय। पर इसका यह अर्थ तो कदापि नही है जो स्वपुरुपार्थ या स्वकर्तृत्व की भी स्वतन्त्रता नही है।

**अध्यात्म की अकर्तृत्व भावना का उपयोग**—तब अध्यात्म-शास्त्र की अकर्तृत्व भावना का क्या अर्थ है ? अध्यात्म मे समस्त वर्णन उपादान योग्यता के आधार से किया गया है। निमित्त मिलाने पर भी यदि उपादान योग्यता विकसित नही होती, तो कार्य नही हो सकेगा। एक ही निमित्त भूत अध्यापक से एक छात्र प्रथम श्रेणी का विकास करता है जब कि दूसरा द्वितीय श्रेणी का और तीसरा अज्ञानी का अज्ञानी बना रहता है। अत अन्तत कार्य अन्तिमक्षणवर्ती उपादान योग्यता से ही होता है हा निमित्त उस योग्यता को विकासोन्मुख बनाते है। ऐसी दशा मे अध्यात्म शास्त्र का कहना है कि निमित्त को यह अहकार नही होना चाहिए कि हमने उसे ऐसा बना दिया। निमित्त कारण को सोचना चाहिए कि—इसकी उपादान योग्यता न होती तो मैं क्या कर सकता था। अत अपने मे कर्तृत्वजन्य अहकार की निवृत्ति के लिए उपादान मे कर्तृत्व की भावना को दृढमूल करना चाहिए, ताकि परपदार्थ के कर्तृत्व का अहकार हमारे चित्त मे आकर रागद्वेप को सृष्टि न करे। बडे से बडा कार्य करके भी मनुष्य को यही सोचना चाहिए कि 'मैंने क्या

किया ? यह तो उसकी उपादान योग्यता का ही विकास है, मै तो एक साधारण निमित्त हू।' **क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्**' अर्थात्—क्रिया योग्य मे परिणमन कराती है अयोग्य मे नही। **इस तरह अध्यात्म की अकर्तृत्व भावना हमे वीतरागता की ओर ले जाने के लिए है, न कि उसका उपयोग नियतिवाद के पुरुषार्थविहीन कुमार्ग पर ले जाने को किया जाय।**

'ज जस्स जम्मि' आदि भावनाए है—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा मे सम्यग्दृष्टि के धर्म भावना के चिन्तन मे ये दो गाथाएँ लिखी है—

> **"जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।**
> **णादं जिणेण णियदं जम्म वा अहव मरणं वा ॥३२१॥**
> **त तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।**
> **को चालेदुं सक्को इंदो वा अह जिणिदो वा ॥३२२॥**

अर्थात् जिसका जिस समय जहा जैसे जन्म या मरण होना है उसे इन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी टाल नही सकता, वह होगा ही। प० दौलतराम जी ने भी छहढाला मे यही लिखा है—

> **"सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यो हरि काल दले ते।**
> **मणिमन्त्र तन्त्र बहु होई, मरत न बचावे कोई॥"**
>
> (ढाल न० ५ छद ४)

इस तरह मृत्यु भय से साधक को निर्भय होकर पुरुषार्थी बनने के लिए नियतत्व की भावना का उपदेश है, न कि पुरुषार्थ से विमुख होकर नियति-चक्र के निष्क्रिय कुमार्ग पर पहुचने के लिए।

उक्त गाथाओ का भावनीयार्थ यही है कि जो जब होना है होगा उसमें कोई किसी का शरण नही है, आत्मनिर्भर रहकर जो आवे उसे सहना चाहिए। मृत्यु को कोई नही टाल सका।

इस तरह चित्त समाधान के लिए भाई जाने वाली भावनाओं से वस्तु व्यस्था नही हो सकती। अनित्य भावना मे ही कहते है कि जगत स्वप्नवत् है,' पर इसका यह अर्थ कदापि नही कि शून्यवादियो की तरह जगत् पदार्थो को सत्तासे शून्य है। वल्कि उसका यही तात्पर्य है कि स्वप्न की तरह वह आत्महित के लिए वास्तविक कार्यकारी नही है। यहाँ सम्यग्दृष्टि की चिन्तन-भावना मे स्वावलम्बन का उपदेश है, उससे पदार्थव्यवस्था नही की जा सकती है।

निवेदन—मेरा यही निवेदन है कि, हम सव समन्तभद्रादि आचार्यो द्वारा प्रतिपादित उभयमुखी तत्त्वव्यवस्थाको समझे। कुन्दकुन्द के अध्यात्म से अहकार और परकर्तृत्व भावको नष्ट करे, कार्तिकेयकी भावना से निर्भयता प्राप्त करे और अनेकान्त दृष्टि और अहिसा के पुरुपार्थ द्वारा शीघ्र ही आत्मोन्नति के असीम पुरुपार्थ मे जुटे। भविष्य को हम वनायेगे, वह हमारे हाथ मे है। कर्मो के उत्कर्षण अपकर्षण उदीरणा सक्रमण उद्वेलन आदि सभी हम अपने भावो के अनुसार कर सकते है और इसी परम स्वपुरुपार्थ की घोषणा हमे इस छन्द मे सुनाई देती है–

"कोटि जन्म तप तपे ज्ञान बिन कर्म झरे जे।
ज्ञानी के क्षण मे त्रिगुप्तिते सहज टरे ते॥"

(ढाल ४ छन्द ५)

यह त्रिगुप्ति स्वपुरुपार्थ की सूचना है। इसमे स्वोदय का स्थिर आश्वासन है। नियतिवाद एक अदार्शनिक सिद्धान्तो से समुत्पन्न काल्पनिक भूत है। इसकी डाढी पकड कर हिला दीजिये और तत्त्व व्यवस्था के दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार से इस श्रोत्रविष से नई पीढी को बचाइये। यह वडा सीधा

उपाय है। न इसमे कुछ करना है न विचारना है एक ही बात याद कर लो 'जो होना होगा सो होगा ही" भाई इस बात का भी उपयोग जब तुम्हारा पुरुषार्थ थक जाय, तो सास लेने के लिए कर लो, कुछ हर्ज नही, पर यह धर्म नही है। धर्म है— स्वपुरुषार्थ, स्वसशोधन और स्वदृष्टि ।

महावीर के समय मे मक्खलिगोशाल इस नियतिवाद का प्रचारक था। **आज सोनगढ से नियतिवाद को आवाज फिर से उठी है और वह भी कुन्दकुन्द के नाम पर।** भावनीय पदार्थ जुदा है उनसे तत्त्वव्यवस्था नही होती, यह मै पहले लिख चुका हूं। यो ही भारतवर्ष ने नियतिवाद और ईश्वरवाद के कारण तथा कर्मवाद के स्वरूप को ठीक नही समझने के कारण अपनी यह नितान्त परतन्त्र स्थिति उत्पन्न कर ली थी। किसी तरह अब नव-स्वातन्त्र्योदय हुआ है। इस युग मे वस्तुतत्त्व का वह निरूपण हो जिससे सुन्दर समाज व्यवस्था-घटक व्यक्ति का निर्माण हो। धर्म और अध्यात्म के नाम पर और कुन्दकुन्दाचार्य के सुनाम पर आलस्य-पोषक पुण्य-पापलोपक नियतिवाद प्रचार न हो। हम सम्यक् तत्त्वव्यवस्था को समझे और समन्तभद्रादि आचार्यो के द्वारा परिशीलित उभयमुखी तत्त्वव्यवस्था का मनन करे।

— — –

# सोनगढ़ी प्रचार में चारित्र की अवहेलना

अभी इधर दहेगाम (गुजरात) मे वैशाख वदी (हिन्दी जेठ वदी) ६ से ८ तक श्री जिन मदिर की वेदी प्रतिष्ठा श्रीकानजी महाराज के सान्निध्य मे हुई। इस प्रसग पर मुझे भी प्रत्यक्षरूप से श्री कानजी महाराज का प्रवचन सुनने तथा उनका सिद्धान्त जानसे का अवसर मिला।

प्रतिष्ठा के उक्त तीन दिनो मे मैने श्री कानजी स्वामी के पाच प्रवचन सुने जिसमे जो वात पहले प्रवचन मे कही गई थी, ठीक वही पाँचवे प्रवचन मे सुनने को मिली, एक ही दृष्टान्त और निश्चय एकान्त से एक ही प्रकार के शव्द। उनके प्रवचन मे कोई मौलिकता या मोक्षमार्ग के निरूपण की पद्धति मेरे देखने मे नही आई। श्री कानजी स्वामी ने अनेक ग्रन्थ देखे है, ऐसा कहते है, उनका अच्छा अभ्यास भी उन्होने किया है। तब फिर समझमे नही आता कि क्यो जिनागम की अनेकात शैलीको दूर रख कर अपना स्वतत्र कल्पित सिद्धान्त आलापना उनका काम वन गया है? मान कषाय वश ही यह कार्य हो रहा प्रतीत होता है। श्री कानजी स्वामी 'समयसार' की गाथा १७-१८ पर प्रवचन करते रहे और हर समय उनके कथन मे यही आता रहा कि शरीर को कृश करने से धर्म नही होता, वाह्याचार पालने से धर्म नही होता, नग्न रहने से धर्म नही होता, उपवासादि करने से धर्म नही होता, पाप-पुण्य वधन है—मैल चाटने के सदृश है, निमित्त से कुछ नही होता, मुनिव्रतधार

अनन्तवार ग्रीवक उपजायो आदि ..। पता नही 'समयसार' की इन गाथा (१७, १८) का यह अर्थ वे कहाँ से निकालते थे। और समझ मे नही आया कि इस प्रकार का विपरीत उपदेश देते रहने से जीवो का या स्वयका क्या कल्याण होने वाला है! 'आत्मा को जान, उसमे लीन होना चारित्र है'--परन्तु श्रावकगण किस प्रकार चारित्र मे लीन हो, इसका कोई उल्लेख अपने प्रवचन मे कानजी महाराज नही करते। मात्र शुष्क सीमित एकान्त अध्यात्मवादरूप विषय लेकर (घर से दुकान और दुकान से घर के समान) बोलते जाते है जिससे आत्मकल्याण का कोई तात्पर्य सिद्ध नही होता। कुछ आध्यात्मिक ग्र थो (प्रवचनसार, नियमसार, आत्मानुशासन, अष्टपाहुड, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमात्मप्रकाश, पद्मनदिपचविंशति आदि) से अपनी मान्यता के अनुरूप थोडा-थोडा कथन लेकर अपने विषय को पुष्ट करते है, जैसे 'मोक्षमार्ग प्रकाशक'-ग्र थ का ७ वा अधिकार। परन्तु उसके आगे-पीछे के अन्य कथन की अवहेलना करते है, वैसे ही अन्य ग्रन्थो के बारे मे भी करते है। यह तो आचार्यो और विद्वानो का भी उपहास ही है। क्या इस प्रकार के एकान्तरूप या विपरीत कथनरूप परिणामो के सद्भाव में सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव सभव है ? चारित्र की बात तो दूर।

### पगले पाडना (पद चिन्ह बनाना)

इसके अतिरिक्त श्री कानजी महोदय अपने भक्तो के घर जाकर कागज या कपडे पर केशर-ककु चुपडवाकर पगले पाडते है--(चरण चिन्ह बनाते है) जिन्हे भक्त लोग अपने घर मे सादर रखते है। उनके अनुयायियो का प्रचार है कि ऐसा करने से धन बढता है, सो ठीक ही है, दुनिया को चाहिए ही क्या ?

जो पैसा वढा दे, वही सबसे वडा 'परमोपकारी सद्गुरुदेव'। देखिए कानजी मत-प्रचार का कैसा साधन है।

## पाद-पच्चालन

एक दिन शाम को लगभग ५॥ बजे जब कानजी महाराज 'कहान-किरण'-नामक वगले मे भोजन के लिए पधारे तो वहा पहले से ही मखमली गलीचे से सुशोभित मुड्ढा उनके बैठने को रख दिया था उस पर कानजी महाराज बैठ गये, तब आहार-दाता अनुयायी भक्तो ने उनके पैर एक बर्तन मे धोये व पैर-धुला जल मस्तक पर चढाया एव नमस्कार किया। उनके उठते-बैठते 'परमकृपालु सद्गुरुदेव की जय' तो भक्त लोग बुलवाते ही रहते थे।

## भोजन का ठाठ

वगले मे सोनगढ के सत के लिए भोजन के उच्चस्थान पर बढिया गलीचा बिछा हुआ था व आगे पटडे पर मिल की कोरी चद्दर बिछा दी गई थी—पीछे की ओर गद्दी तकिया और मखमली पर्दा उनकी शोभा बढा रहे थे। तभी चादी के वर्तनो मे सजा हुआ भोजन (पापड, पूरी, हलुवा आदि) आया व उन्होने भोजन किया। खाना पूर्ण होते ही पानी पीने के पूर्व वे बोल उठे कि 'अमुक भाई कहा है ?' इससे प्रतीत होता है कि सामान्य 'मौन' जैसा भी कोई व्यवस्थित नियम वे नही पालते।

## कृत्रिम दाँत

पश्चात् पानी पीकर उन्होने अपने कृत्रिम दात निकाले व शीघ्रता से धोकर फिट कर लिये। मुझे विचार आया कि इन अध्यात्मवादी सत नामधारी महोदय के स्वशरीर का भारी मोह

दिखाई देता है अन्यथा कृत्रिम दात (जवाडा) क्यो लगवाते ? बाद मे गुरु स्तुति पूर्वक अध श्रद्धावान भक्तो ने उन्हे तीन वार नमस्कार किया और 'सद्गुरु देव की जय–घोषो के बीच श्री कानजी महाराज बगले से बाहर निकले व तैयार खडी 'कार' मे आ वैठे।

## 'कार' सर्वत्र तैयार

श्री कानजी महोदय आधे फर्लांग भी पैदल नही चलते। राजा-महाराजाओ की भाति 'कार' द्वार पर हर कही हाजिर रहती है। उनकी स्पेशियल गाडी का नाम 'म ।लवर्द्धिनो' है। प्रवास मे वही उनकी साथी है। ये 'सन्तो' के राजशाही ठाठ, शरीर को कष्ट नही, चारित्र की आराधना-साधना नही, सयम का नाम नही–फिर भी धर्म के नाम पर 'समयसार' की सूखी रट अवश्य है।

कई वर्ष पूर्व मेरे सुनने मे आया था कि सोनगढ मे ही उनके कुछ भक्त उनकी झूठी थाली सम्यक्त्व के नाम पर धोकर पी जाते है, सो ऐसा दैनिक होता है या कभी-कभी इसका पता नही।

इस प्रकार 'ढोल मे पोल' है। श्री कानजी महोदय की सयम व चारित्र के प्रति उपेक्षा तथा मान कषाय की तीव्रता ने ही उन्हे निश्चय-एकाती एव आचार्यो, मुनि, त्यागी व्रती, विद्वानो की निन्दा-अवहेलना करने वाला वना दिया है। उनके अनुयायी भी वैसे ही तैयार हो रहे है। वे अभिमानी इतने है कि अपने से अधिक किसी को समझते ही नही। ऐसे 'धर्म प्रचार' से तो धर्म-निन्दक ही निर्माण होगे, कोई भी **निष्पक्ष तटस्थ विचारशील धर्म-बन्धु** सोनगढ जाकर इन सव बातो

को प्रत्यक्ष देख सकता है। विशेष रूप से 'समयसार' का ही स्वाध्याय करते है-अमुक गाथाओको लेकर ही प्रवचन करते है, उसमे भी जो अपना कहना होता है, कहते है वही गाथाओ का अर्थ गाथाओ मे रह जाता है। 'समयसार'-ग्रन्थ का स्वाध्याय सोनगढ मे १४ वार हो चुका है, वह इसी लिए कि कानजी महोदय को अन्य ग्रन्थ का अवलम्बन लेना अपने प्रवचन मे कठिन होता है। 'समयसार' पढकर भी उसका रहस्य जैसे एक बार प० बनारसीदास जी भी नही समझ पाये थे उससे भी अधिक खराब दशा आज कानजी महोदय व उनके भक्तो की है। वास्तव मे गजब का आडम्बर और प्रचार है, इसी लिए कुछ भाई 'दूर के ढोल सुहावने' की कहावत अनुसार उधर आकर्षित होते है, धर्मप्रचार जैसी कोई वस्तु वहा है ही नही, मात्र एक वातावरण सा बना रखा है। सम्यक्त्व के नाम पर मिथ्यात्व का पोषण वर्तमान मे सोनगढ के प्रचार से हो रहा है। जहाँ देव शास्त्र गुरु की भी सच्ची श्रद्धा नही है, 'दिगम्बर' और 'वीतराग' शब्दो के पीछे अपनी कषायो का पोषण है।

समाज सावधान होकर चेते व इस प्रचार का असली स्वरूप पहचान कर इससे बचे एव जो कुछ जीवन मे बने मदकषायरूप परिणामो को अपनाते हुए नियमित देवदर्शन, पूजन, स्वाध्याय, दानव्रतादिमे अपनी प्रवृत्ति रक्खे जिससे परिणामोमे सरलता व निरभिमानता को स्थान दे। वर्तमानमे इससे अधिक कुछ सभव नही है, कही 'धोवी का कुत्ता घर का न घाट का' वाली वात न हो जाय। विशेष शाति के लिए सम्यग्ज्ञानसह 'साधुदशा' बुद्धि-पूर्वक स्वीकार की जाय तव कही 'समयसार' का स्वचिन्तनार्थ सही उपयोग हो सकता है। शास्त्रो मे तो वहुत कुछ है, अपने पदानुसार ही जिसका उपयोग हो, उसे अपनावे, कोरे शब्दो मे

लुभाने मे सार नही है। आशा है जैन समाज व विद्वज्जन इस पर गभीरता से विचारेगे।

अन्त में, मैं श्री कानजी महाराज से भी नम्र निवेदन करूँगा कि वे अपने एकात उपदेश की शैली बदले जिससे धर्म की यथार्थता प्रकट हो। एव अपने फोटो मदिरो मे लगवाना, पैर धुलवाना, सद्गुरुदेव कहलवाना, नमस्कार कराना आदि पदविरुद्ध क्रियाएँ बन्द कर देवे तथा विधि-पूर्वक श्रावक की दूसरी प्रतिमा धारण कर व्रती श्रावक का आगमानुसार जीवन बनाये। इसमे निश्चय ही स्वाभाविक आनन्द आवेगा। साधना सदैव कष्टमय ही होती है। कृपया इस बात को भी मस्तिष्क से बिलकुल निकाल देवे कि आप वर्तमान मे जीवो को सम्यक्त्व का उपदेश सचमुच दे रहे है और दुनिया मे अन्य विद्वान्, त्यागीगण व पडित, मूर्ख, व्यवहार-दृष्टि निमित्ताधीनदृष्टि वाले है आदि। आप अपना ज्ञान माजने के लिए विद्वानो का समागम कीजिए व उन्हे अपना उपदेश सुनाने के लिए सोनगढ मत बुलाइए। विशेष क्या।

निवेदक—

**बाबूलाल जैन गोयलीय, सलाल**

(साबर काठा) गुजरात

## वयोवृद्ध श्री कानजी स्वामी से

# १० दिन तक प्रेम वार्तालाप

(ले०—श्री ब्र० लखमीचन्दजी वर्णी)

पिछले माह (मार्च, १६६३) मे मुझे श्री भाई कैलाशचन्द जी तथा श्री भाई पृथीचन्द जी दिल्ली वालो के साथ श्री गिरनार जी की यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

रास्ते मे हम लोग राजकोट उतरे और १० दिन तक ठहरे। उस समय श्री वयोवृद्ध कानजी स्वामी से मिला। उन्होने पूछा कहा से आये हो, मैने कहा देहली से, 'क्या नाम', मैने कहा 'लखमीचन्द'। तव आपने कहा, क्या सूर्यसागर जी के सघ के हो, मैने कहा, हा। उस दिन तो मैने कुछ चर्चा नही की। दूसरे दिन मैने पूछा कि आप से एकान्त मे कुछ वात करना चाहता हूँ, तव आपने मुझे आज्ञा दे दी, और जो दर्शक वैठे थे सो उनके सकेत से सव लोग उठ कर चले गए।

मैने कहा कि समाज मे अनेक तरह की गलतफहमी फैली हुई है उसे मै जानना चाहता हूँ, आपने प्रेम से मुझे उत्तर दिया इसलिये आप धन्यवाद के पात्र हे। उस वातचीत को समाज के लिये हितकारी समझ कर पाठको को उसका साराश वताना उपयोगी समझता हूँ।

मेरे प्रश्नो का उत्तर श्री स्वामी जी ने वडी सरलता से दिया।

प्रश्न—आपने अपने प्रवचनसार मे (समयसार के प्रवचन मे) पुण्य को विष्ठा के समान वतलाया, सो क्या यह ठीक है ? क्या

ऐसा कही किसी आचार्य ने लिखा है कि पुण्य करना विष्ठा है। और धर्मात्मा तो पुण्य करते ही है, अगर पुण्य विष्ठा है तो फिर लोग यह पुण्य करना, मदिर बनवाना, धर्म के आयतन बनवाना सब कार्य बन्द कर दे ? उत्तर मे स्वामी जी ने कहा कि 'ऐसा कपायवश लिखा गया है' ।

तब मैने कहा कि इस शब्द को सुधारना चाहिए, तब महा-राज ने सरलता से कहा कि इस पर विचार करेगे । अगर कोई व्यक्ति मेरे प्रवचन मे से विष्ठा शब्द को निकलवाना चाहे तो मुझे कोई ऐतराज नही है ।

तब मैने कहा कि इस शब्द को आप ही निकाल दीजिये इसमे आपकी बडी प्रतिष्ठा है ।

प्रश्न—सोनगढ के मानस्तभ मे आपने अपनी मूर्ति क्यो लगवाई ?

उत्तर–मैने अपनी मूर्ति नही लगवाई अन्य लोगो ने लग-वाई है सो मैने उसे हटा देने को कह दिया है ।

प्र०–आप भोजन कितनी बार करते है ?

उ०–पुराना सस्कार छूटता नही इसमे मेरी लाचारी है । क्योकि मुझे ४५ वर्प से खासी की वीमारी है इसलिये सवेरे अभ्रक और त्रिफला की भस्म घी मे मिला कर खाता हूँ और उसके वाद दूध विना मीठे के पीता हूँ । कारण, नही तो अभ्रक की गर्मी से बोला नही जाता और भोजन दिन मे दो वार करता हूँ तथा वीच मे पानी पीता हूँ, मै कुआ का पानी और हाथ का आटा तथा मर्यादा का मसाला खाता हूँ ।

तब मैने कहा कि जब इतना काम करते है फिर व्रत क्यो नही ले लेते ?

तब आपने कहा कि यह तो आचरण है। व्रत लेना और बात है और आचरण करना अन्य बात है।

प्रश्न—क्या आप रजस्वला स्त्री के हाथ से भोजन करते है?

उत्तर—रजस्वला स्त्री ५ दिन तक मेरे सामने नही आती।

प्रश्न—अनेक पडित आपके विरुद्ध लिखते है आप उत्तर क्यो नही देते?

उत्तर—अगर हम उत्तर देने मे लग जाये तो मेरा अध्ययन छूट जाय, उत्तर देने मे ही उपयोग लगा रहे, इसलिये उत्तर नही देता।

प्रश्न—आप पडितो से सिद्धात चर्चा क्यो नही करते?

उत्तर—पडित लोग निमित्त को मुख्य कहते है, और मैं निश्चय को मुख्य कहता हू इसलिये पडितो से चर्चा नही करता।

प्रश्न—आप प्रतिमा धारण क्यो नही करते?

उत्तर-प्रतिमा पालने का अन्दर से भाव नही होता क्योकि पुराना सरकार भीतर पडा हुआ है।

प्रश्न—महाराज जी आपने निश्चयनय का इतना प्रचार किया और २५ मदिर बनवा दिये तब आपका परिणाम चारित्र की तरफ क्यो नही जाता, इसका क्या कारण?

उत्तर—यही कि अभी उस तरफ दृष्टि जाती ही नही।

"आपकी सरलता को देखकर मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ अगर आप चारित्र पर जोर देवे तो समाज की बहुत उन्नति हो और आपका अमर नाम रहे। आप व्यवहार को बंध कहते है जैसे देव पूजा गुरूपास्ति आदि को बंध कहते है, सो इन—शब्दो का अर्थ लोग लगाते है कि पूजा दान से बन्ध होता है सो ऐसा बन्ध

क्यो करे। अगर बन्ध के साथ शुभ बन्ध कहे तो ठीक हो जाय। लोग पूजा दान करना तो चाहते ही नही, फिर आपका बन्ध शब्द सुनकर पूजा करने मे प्राय उदासीन हो रहे है। इसलिए महाराज जी पूजा दान को आप 'पुण्यबन्ध' कहने लगे तो कुछ मार्ग चले, नही तो धीरे-धीरे मार्ग अवरुद्ध हो जायगा क्योकि लोग इसको करना नही चाहते फिर आपके शब्द को पकड कर स्वच्छन्द हो जावेगे।"

आपका कार्यक्रम बडा सराहनीय है आप दिन मे सवेरे एक घटा, मध्यान्ह मे १ घंटा, शाम को १ घटा, इतनी वडी अवस्था मे भी वोलते है। इतना बोलना यह सब ब्रह्मचर्य का माहात्म्य है।

वयोवृद्ध श्री रामजी भाई का भी शास्त्र सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ। आप पूजा भी प्रति दिन वडी भक्ति से करते है। श्री खेमजी भाई शास्त्र बडे हर्ष से पढते है और समझाने मे वहुत कुशल है।

श्री लालचन्दजी भाई के घर पर शाम को शास्त्र होता है। बडे प्रेम से श्रोताओ के हृदय मे बात जमा देते है, यह एक वडी खूबी है। मै तो आपके प्रवचन मे प्रतिदिन जाता था।

—जैन गजट ४ अप्रेल ६३ से उद्धृत

# सुन्दर भाषा

( श्री बाबू कलीरामजी जैन )

शब्द असख्य है-सज्जन पुरुष का कर्तव्य है कि वह अच्छ सुन्दर सभ्य मीठे शब्दो का इस्तेमाल करे।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने रयणसार ग्रन्थ मे गृहस्थ जैन के लिये दान और पूजा मुख्य धर्म बताया है क्योकि सच्चे देव शास्त्र गुरु का भक्त सम्यग्दृष्टि जैन गृहस्थ अपने धन से मोह ममता त्याग कर दान करता है और कुदेव पूजा का त्याग करके अर्हन्त भगवान की पूजा करता है। उसके सराग भाव से जहा पुण्य बध होता है, वहा त्याग भाव से सवर निर्जरा भी होती है। इसलिए सवर निर्जरा का कारण होने से पूजा और दान को श्री कुन्द-कुन्द आचार्य ने धर्म कहा है।

श्री कान जी दान पूजा आदि करने वालो को हीजडा, नालायक, वीर्यहीन, नपुन्सक, मिथ्यादृष्टि, अधर्मी, लुटेरा, डाकू कहते है। उनकी कितनी अच्छी सुन्दर मीठी भाषा है!

पिछली अप्रैल १९६३ के आत्मधर्म पत्र के ५२४ तथा ५२५ पृष्ठ पर उनके नीचे लिखे वाक्य पढिये।

"हिजडे (नपु सक) सैनिक की पोशाक पहिनकर युद्ध मे नही लड सकते, उसी प्रकार जिन्होने आत्मबल (वीर्य) को पुण्य-पाप मे धर्म मानकर लगाया वे आत्म हित के कार्य मे नालायक है असमर्थ है। पुण्य चाहिए, प्रथम शुभ राग रूप व्यवहार चाहिए, ऐसी पराश्रय की श्रद्धा करने वाले वीर्यहीन नपुन्सक है, अनादि रूढ व्यवहार मे विमूढ है, इसलिये वे प्रौढ विवेक वाले निश्चय मे अनारूढ है-अर्थात् आत्महित रूप स्वकाय मे प्रमादी होकर सो रहे है

वीतराग भाव से ही धर्म होता है—ऐसी श्रद्धा छोड कर जो पुण्य मे, दया, दान, पूजा के शुभ राग मे धर्म मानते है वे चैतन्य की जागृति रहित होने से वीर्यहीन, नपुन्सक है।

चैतन्य स्वभाव का आलम्बन, वह धर्म है, धर्म का कारण है। निचली भूमिका मे व्रत, तप, दान, पूजा, भक्ति आदि के शुभ भाव आते है किन्तु वह पराश्रयरूप राग है, वन्ध का ही कारण है, स्वय वन्ध भाव है, उसको कथचित् व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा हो वहाॅ समझना कि ऐसा नही है क्योकि वह मलिन भाव आस्रव तत्त्व है। उसे जो धर्म माने—मनाये वे हिसक है—मिथ्यादृष्टि है, अधर्मी है, राग को धर्म मानने वाले जैन शासन के लुटेरे, डाकू है।"

प्रश्न यह है कि दान, पूजा, अणुव्रत महाव्रत आदि को श्री कुन्द कुन्द आचार्य ने जो धर्म तलाया है क्या वह गलत है? स्वय कुन्दकुन्द आचार्य जिस व्यवहार चारित्र का आचरण करते थे सो क्या वे धर्मात्मा नही थे? आचार्य कुन्द कुन्द ने समयसार मे जो लिखा है निश्चय नय तेरहवे गुणस्थानवर्ती पूर्णज्ञान चारित्र (सम्यक्त्व) वाले के लिये और उससे नीचे गुणस्थान वालो के लिये व्यवहारनय बतलाई है। सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभाव दरसीहि, आदि) क्या कानजी भाई उस पद मे पहुच गये है जहाॅ व्यवहार धर्म नही है? वे जो खुद पूजा भक्ति करते है सो कर्मवध के लिये करते है या कर्मो से छूटने के लिये? और जो अपशब्द वे दूसरो के लिये लिख रहे है वे उन पर लागू होते है या नही? वे खुद शुद्धोपयोगी है या शुभोपयोगी? इसी को कहते है 'दीगरा नसीहत खुदरा फजीहत।'